और वे पानी के लोग

केशव चन्द्र वर्मा

१९५९
कि ता ब म ह ल
इलाहाबाद, बम्बई, दिल्ली

नई कविता के तीन तिलंगों—

भारती

सर्वेश्वर

लक्ष्मीकांत

को

....

जाओ,

दे दिया !!

अनुक्रम

काले डिब्बों की चरख़ी

दो दिन से मुझे बड़े बेहूदे सपने आ रहे हैं। छोटे-छोटे चार-पाँच काले डिब्बे एक चरख़ी में घूमते दिखाई पड़ते हैं। फिर उसी चरख़ी से बंगाली बाबू का हँसता हुआ चेहरा बन जाता है ठीक उसी तरह जिस तरह आतिशबाज़ी की चरख़ी में पटाखे छूटने के बाद किसी नेता की हँसती हुई तस्वीर निकल आती है। उनके गाल और पामीर के प्लेटू सब कुछ दिखाई पड़ते हैं। फिर एकदम एक क्षीर समुद्र उमड़ता दिखाई पड़ता है। काले डिब्बों की चरख़ी उसमें डूब जाती है और क्षीर समुद्र में से मलाई की झाग उठने लगती है। एकाएक एक बड़ी-सी काली मूँछ 'डकोटा' प्लेन की तरह आती है और मलाई की झाग समेट कर उड़ जाती है। मूँछें मेरे कान में घुस जाती हैं और मैं उसकी गुदगुदी से कान खुजलाता हुआ जाग पड़ता हूँ।

बात महीने भर से ऊपर की है।

दरवाज़े पर ही मेरे पाँवों को जैसे लकवा मार गया। सामने का कमरा देखकर उबकाई आ रही थी, फिर भी नाक बन्द करके मुझे घुसना उसी में था। सामने ऐंड़ी-बैंड़ी तिरछी-सीधी पाँच काली मेज़ों से कमरा भरा-भरा-सा लग रहा था। मेज़ों पर एक एक पुराना सोख़्ता पड़ा हुआ था जिस

पर मोटे-मोटे लाइनदार बादामी रजिस्टर, किनारे पर एक दावात और एक होल्डर, एक छोटा-सा काला डिब्बा और अनेक बिखरे हुए कागज़ रक्खे थे। मेज की खाली जगह गोंद की लम्बी-लम्बी लाइनों से विभूषित थी। उन मेजों के सहारे रक्खी हुई काठ की कुर्सियों पर कुछ पारलौकिक और आधिभौतिक मूर्तियाँ प्रतिष्ठित थीं। किनारे वाली मेज पर एक बहुत ज़्यादा मोटे सज्जन विराजमान थे, जिन्होंने शायद काम की सहूलियत के लिए मेज़ और अपनी तोंद में लगभग आध गज़ का फ़ासला रख छोड़ा था। उनके पास ही एक उगालदान जैसा मिट्टी का एक वर्तन रक्खा था जिसमें वे इतनी ही देर में कम से कम छः बार पान की पीक थूक चुके थे। उनके ठीक सामने एक सरदार जी थे जो गुरमुखी में छपा एक इकपन्ना अख़बार बाँच रहे थे। तीसरे सज्जन देखने से खत्री मालूम पड़ते थे। गोरा रंग, छोटी-छोटी तितली मार्का मूँछें, चेहरे पर कुछ चेचक के दाग़, मझोला कद, कोट-पतलून पहिने हुए थे, जिसमें कोट के तीनों बटन बाक़ायदा बन्द थे। रह-रह कर अपनी जेब से रूमाल निकालते थे और जोर से नाक साफ़ करते थे। उसके बाद वाली मेज़ ख़ाली थी। उस पर उड़ सकने वाले कागज़ों को रेल की पटरी के नीचे बिछने वाले पत्थरों से दबा दिया गया था। रजिस्टर उस मेज़ पर नहीं थे। कमरे की चौड़ाई वाली दीवार में गाँधी जी की तस्वीर लगी हुई थी जिस पर पड़ी हुई माला सूख गई थी। उसके ठीक नीचे एक मेज़ और थी। यह मेज़ अपेक्षाकृत कुछ साफ़ थी। साफ़ इस माने में कि इस पर एक पुराना हरा नमदा बिछा हुआ था, जिस पर लाल और काली रोशनाई के इतने धब्बे पड़े हुए थे कि नमदे का असली रंग पहचानना किसी रिसर्च वाले को डिग्री दिला कर ही छोड़ता। इस मेज़ पर रजिस्टरों की संख्या भी कम थी। कागज़ों को दबाने के लिए शीशे के एकाध टुकड़े भी दीख रहे थे। एक पुराना क़लमदान था और आलपीन का एक कुशन भी था, जिसका बुरादा दर्जनों जगह से झाँक रहा था। इस मेज़ पर एक अधेड़ उम्र के बंगाली सज्जन काम करते हुए दिखाई पड़े। दुबले, पतले, पोपल गाल, इलेस्टिक वाला गोलफ्रेमी चश्मा,

लम्बा कोट, धोती और पम्प-शू पहिने हुए वे सज्जन बार-बार दाहिना हाथ उठा कर बाँए हाथ से बग़ल खुजला रहे थे।

मैं चुपचाप खड़ा कमरे का यह अद्भुत दृश्य देख रहा था। सहसा नीला कुरता और नीली पगड़ी बाँधे हुए एक जमादारनुमा कुली ने पूछा —

"क्या काम है ? किसको देख रहे हो ?"

"यहाँ कोई मुखर्जी साहब हैं ? उन्हीं से मिलना है !"

नीली वर्दी ने मुझे ले जाकर उन्हीं बंगाली सज्जन की मेज़ के सामने खड़ा कर दिया। उन्होंने पूर्ववत् अपनी बग़ल खुजलाते हुए नीची निगाह से कुछ पढ़ते हुए पूछा—

"क्या है ? परची लाया हो तो बाबू के पाश में ले जाओ न !··· शामान निकाल दो इनका।

नीली वरदी ने कुछ गरम स्वर में कहा—

"नम्बर क्या है ?"

मैं कुछ भी माजरा समझ पाने में अपने को असहाय पा रहा था। जाने क्यों उस बूढ़े बंगाली की टोन से मैं इतना नरवस हो गया था कि कुछ भी कहने-सुनने की हिम्मत नहीं पड़ रही थी। कुछ एक क्षण खड़ा रहा। चुपचाप खड़ा रहने की मूर्खता जब मेरे अन्दर फिर साहस का स्रोत बनी तब मेरे मुँह से निकला—

"मैं मिस्टर डी० सी० मुखर्जी से मिलना चाहता हूँ। मुझे मिस्टर सिनहा ने भेजा है।"

बुढ़ऊ ने अबकी आँखें उठाईं और मेरी तरफ़ देखा। फिर अकारण कुछ ललक-सी दिखाते हुए बोले—

"ओ हो, अच्छा आप गिरीशचन्द्र बाबू हैं ? न्यू एप्वाइंटमेण्ट !"

"जी।"

"तो पहिले कीश माफिक बोला था बाबू ? शीट डाउन, शीट डाउन प्लीज़।"

तत्काल ही उन्होंने मेरा परिचय कमरे में बैठी हुई अन्य तीनों मूर्तियों से कराना प्रारम्भ कर दिया। वे कह रहे थे—

"हीयर ईज़ मिस्टर गिरीशचन्द्र। न्यू एप्वाईंटमेंट। आपका हमारा दफ्तर में नया आदमी आया है। फार्श्ट किलाश एम० ए० किया है। शिनहा साहब बोला है जे बोत अच्छा आदमी है। और बाबू गिरीश बाबू-ऊ देखिए कोना पे मिस्टर ब्रिजलाल बाबू हैं, उश्का पश्चात् आप हैं शरदार शूंत सिंह, और फिर आपना जे रश्तोगी बाबू है।"

मुझे आश्वासन देते हुए बोले—

"शाब ठीक है। शाब आपनाई आदमी है। कोई घबड़ाना नहीं। कुछ फिकिर का बात नेई है। चार दीन में तोमरा काम फार्श्ट कीलाश होइ जाइगा। कूछ फिकिर का बात नेई है।"

खाली वाली मेज के पास मुझे ले जाकर बंगाली बाबू ने मुझसे कहा—

"आपना की जे टेबुल है। ईश पर आप बैठो। अरे बैठो बैठो न। ईश तरह का मुरव्वत करना शे जे रोज-रोज का काम किश माफ़िक चलेगा? बैठो न।"

मुझे हिचकिचाते देख बंगाली बाबू ने ज़बर्दस्ती उस काठ की कुर्सी पर बिठा दिया। उन्होंने मुझे काम करने के कुछ नुस्ख़े बता दिये और बाकी सीख लेने का तरीका बताकर वे अपनी कुर्सी पर जा बैठे। नीली वरदी ने मेरी मेज को एक पुराने झाड़न से पोंछने के बहाने उस पर काफ़ी गर्द लगा दी थी। रजिस्टर से उसे झाड़ा, फिर मैं चुपचाप उसी काठ की काली कुर्सी पर बैठ गया। मेज को पहले ही देख चुका था, उसमें नया कुछ नहीं देखना था। हाथों में रीडर्स डाइजैस्ट की एक प्रति थी। बैठा-बैठा उसे उलटने लगा।

मेरे सामने एक लेख था "प्लैनिंग फ़ार योर फ़्यूचर"। पन्ने पर निगाहें जमी हुई थीं, दिमाग सिर पर चल रहे बिजली के पंखे की तरह नाच रहा था। जान तोड़ कोशिश करके एम० ए० अच्छी तरह पास किया था। सोचा था कि जैसे गंगा की एक डुबकी स्वर्ग के सभी रास्तों

का पासपोर्ट देती है तैसे ही मेरी एम० ए० की डिग्री निकलेगी—नौकरी के सभी दरवाज़े मेरे सामने 'खुल जा सम सम' कहते ही खुल जायँगे। कोशिश यूनिवर्सिटी और डिग्री कालेजों की मास्टरी से शुरू की। बहुत दिनों तक तो अपने बारे में यह मुग़ाल्ता बना रहा कि मैं योग्य हूँ और योग्य आदमियों की हमारे देश को ज़रूरत है। मगर ज्यों-ज्यों अपनी कोशिशों का फल देखता गया त्यों-त्यों इन दोनों ही बातों पर से भरोसा उठता ही गया। समझ गया—या तो मैं योग्य नहीं हूँ या फिर इस जगह 'योग्य' आदमियों की ज़रूरत नहीं। जान बड़ी साँसत में थी। दोनों ही बातें समझ कर भी समझना नहीं चाहता था मगर आसपास की दुनिया थी कि जनाब समझाने को जैसे उधार खाये बैठी थी। बाबू जी ने चूँकि इस 'जीवन-बिरवे' को सींचा था और पाल-पोस कर बड़ा किया था—इसलिए वह यह चाहते थे कि मैं तत्काल कोई नौकरी हासिल करके अपनी 'इहलीला' दिखाऊँ! वे मेरी नौकरी के लिए सिफ़ारिश का ज़ोर चाहते थे और मैं बिना सिफ़ारिश वाली नौकरी चाहता था। छः महीने तो इसी कसरत में बीते—न वे सिफ़ारिश जुटा पाये—और न मैं बिना सिफ़ारिश वाली नौकरी।

आख़िरकार एक दिन उन्होंने मुझे यह ख़ुशख़बरी सुना ही दी कि उनकी सिफ़ारिश काम कर गई है और मुझे स्थानीय कम्पनी मालगोदाम के दफ़्तर में एक क्लर्क की जगह मिल जायगी। यूनिवर्सिटी का ताज़ा दिमाग़—हर वक्त स्ट्राइक, भूख हड़ताल और क्लास में जूता घिसने के अन्दाज़ में जो ज़िन्दगी को सोचता हो, उसे यह मालगोदाम की क्लर्की कुछ जमी नहीं। "हाँ, हूँ" कुछ नहीं की—इसलिए भी कि बिना सिफ़ारिश वाली नौकरी ढूँढने में मैं फेल हो चुका था। माँ ने मेरी यह हालत ताड़ते हुए कहा—"शायद यह क्लर्की नहीं करना चाहता।" बाबू जी ने वकीलों की मानिंद कहा—"नहीं करना चाहता तो आगे न करेगा। अरे भाई, खाली बैठे रहने से तो दिमाग़ खराब हो जाता है। जब इसे कोई अच्छी जगह मिले तो इसे छोड़ दे। आख़िर इसे वहाँ कौन बाँधकर

बिठा लेगा।" मेरे पास कोई तर्क नहीं था। मन की बात थी लेकिन बहस से दूर थी।

सहसा मेज़ पर रक्खे काले डिब्बे में खटाक् की एक आवाज़ से मेरा ध्यान टूट गया। किसी ने पैसा डाला था। निगाह उठाई तो सामने एक अधेड़ उम्र के सज्जन पैजामा-कमीज़ पहिने हुए खड़े थे।

"साहब, यह रसीद है। माल आ गया होगा। निकलवा दीजिए।"

मैं जब तक कुछ कहूँ, तब तक बग़ल में बैठे हुए तितली मार्का मूँछों वाले रस्तोगी जी ने उस आदमी को अपनी तरफ़ बुलाते हुए कहा—

"इधर लाइये, इधर लाइये। अभी आप नए-नए आये हैं। लाइये, अपना काम इधर लाइये। क्या है?"

वह सज्जन रस्तोगी जी की ओर बढ़ गये। रसीद लेकर उन्होंने नीली वरदी से सामान निकाल देने के लिए कहा। आदमी उस कुली के साथ चला गया। रस्तोगी जी ने मेरी ओर देख कर कहा—

"अभी आप नए-नए आये हैं। जरा सम्हल कर रहियेगा। यहाँ के आदमी बड़े ही बदमाश हैं साहब! उनसे उसी तरह ज़रा कड़े से बात करनी होती है। वैसे कोई बात हो तो फ़ौरन बताइयेगा। मैं सब ठीक कर दूँगा।"

मैंने उन्हें धन्यवाद देकर फिर 'रीडर्स-डाइजेस्ट' में सिर डाल लिया। दिन भर लोग आते रहे और अनेक बार खटाक्-खटाक् की ध्वनियाँ मेरे विचारों से टकराती रहीं जैसे ऊपर चलने वाले पंखे के ब्लेड में कोई चीज़ बार-बार लड़ जाती हो। दफ़्तर का वक्त पूरा हो गया। धीरे-धीरे तीनों ही आदमी—वे भरपूर मोटे सज्जन, सरदार जी और रस्तोगी जी बूढ़े बंगाली बाबू की मेज़ पर जमा हुए। सबके हाथों में मेज पर रक्खा हुआ अपना-अपना काला डिब्बा था। मैं कुछ सशंक-सा देख रहा था। दफ़्तर का दरवाज़ा बन्द हो चुका था। तीनों ने अपने हाथ के डिब्बे बंगाली बाबू की मेज़ पर उलट दिये। दो सौ के लगभग दुअन्नियाँ उनकी मेज़ पर दिखायी पड़ने लगीं। मुखर्जी बाबू ने हँस कर कहा—

"अरे बाबा गिरीश बाबू को भी तो बूलाओ। आओ-आओ ईधर आओ न गिरीश बाबू—" मैं उठा और उनकी ओर बढ़ा। बंगाली बाबू ने आगे कहा—

"अरे आपका भी डीब्बा उठाय लाओ। देखो न, पोहिला दीन का कमाई है भाई।"

सब हँस पड़े। सरदार जी ने लपक कर मेरी मेज़ पर का डिब्बा उठा लिया। हल्का जानकर कहा —

"इसमें आज कुछ नहीं होगा बड़े बाबू।"

रस्तोगी जी ने बुझते दिये में तेल जैसा कमेंट किया—

'फिर भी, कुछ न कुछ तो मिलेगा ही।'

मोटे आदमी ने जिसका नाम ब्रजलाल बताया गया था, लपक कर सरदार के हाथ से वह डिब्बा ले लिया और बड़े उत्साह से उसे उलट दिया। कुल जमा एक दुअन्नी गिरी। सब फिर हँसे। एक मैं चुप था। बंगाली बाबू ने सबका हिस्सा लगा दिया। उनके हिस्से में पचास आईं, चार हिस्से तीस-तीस दुअन्नियों के हुए और एक हिस्सा दस दुअन्नियों का हुआ। यह दस दुअन्नियों का हिस्सा शायद नीली वरदी का था। बीस दुअन्नियाँ खोटी और ख़राब निकल गयीं। सब की ओर सब का हिस्सा बढ़ाते हुए मुखर्जी बाबू ने कहा—

"लीजिए, वैशे आज काफी कम रहा। थोड़ा बेशी धियान देने का जरूरत है। पब्लिक आय कर रद्दी पेइशा डाल जाता है। ईश का खातिर थोड़ा केरफूल रहना चाहिए।"

रस्तोगी जी ने अपने हिस्से की गड्डी में दुअन्नियों की परख करते हुए कहा—

"साहब! यहाँ के लोग हैं ही बड़े बदमाश। भला बताइए किया भी क्या जा सकता है? जरा चीं चपड़ कीजिए तो ये ससुरे रिपोर्ट करने पर तैयार हो जाते हैं। अब तो साहब—लोगों का जिबहा खुल गया है। बस रिपोर्ट करने को तो जैसा उधार खाए बैठे रहते हैं। और ये सरकार भी

उन्हीं की सुनती है। इसी से मैं कहता हूँ बड़े बाबू, जो कुछ सीधी तरह मिल जाय, वही बहुत समझिए।"

रस्तोगी जी की मूछें उनके व्याख्यान की लय पर बुरी तरह ऊपर नीचे नाच रही थीं। हाँ, 'सरकार' की बात करते हुए रस्तोगी जी ने अपने टोन को ज़रा धीमा कर लिया था। पान की पीक मुँह में भरे ही भरे बाबू ब्रजलाल ने और सरदार साहब ने उनकी हाँ में हाँ मिलाई। बंगाली बाबू ने मेरी ओर दुअन्नियों की गड्डी बढ़ाते हुए अपनी आवाज़ को थोड़ा नर्म करके कहा—

"लीजिए न गिरीश बाबू। आज का आपका हीश्शा है।"

इस सारे व्यापार से मुझे घबड़ाहट लग रही थी। मैंने कहा—"मुझे माफ़ कीजिएगा। मैं नहीं लूँगा।"

चारों मेरी तरफ़ एकटक देखते रहे। बूढ़े बंगाली ने पूछा—

"क्यों?"

"ऐसे ही। मुझे जरूरत नहीं है। आप लोग लीजिए।"

मैंने अपनी मेज पर पड़ी अपनी "रीडर्स डाइजेस्ट" उठाई और बाहर निकल आया।

दो-तीन रोज़ के अन्दर मुझे पूरे राज़ का पता चल गया। हर मेज़ पर रक्खा हुआ काला डिब्बा 'वेलकम' का साइनबोर्ड था। जो आदमी अपना माल छुड़ाने आता था, उसे सबसे पहिले इसी काले डिब्बे का मुकाबिला करना पड़ता था। आते ही उसका पहिला काम यह होता था कि डिब्बे में एक दुअन्नी डाल कर वह ध्वनि उत्पन्न करे कि मेज पर का बाबू उसकी ओर आँख उठा कर देखे। खटाक् की ध्वनि जब तक न हो तब तक मेज पर का बाबू आँख नहीं उठाता था। यदि कोई दुअन्नी की स्वर-लहरी उठाए बिना अपना काम करने पर आमादा दिखाई पड़ता तो उसका माल सैकड़ों बण्डलों के नीचे दबा मिलता, या नहीं मिलता था, या आने के दो रोज़ बाद मिलता था, या-या बहुत कुछ हो सकता था। यह काम नीली

वरदी का था कि बिना कहे यह समझ जाय कि कब किसका माल फौरन देना है और किसका नहीं। शहर के लोग जो इस दुअन्नी टेकनिक से परिचित थे, उन्हें अपना माल पाने में ज्यादा झंझट का सामना नहीं करना पड़ता था। मेरी मेज़ का डिब्बा भी वक्त बेवक्त इन ध्वनि-लहरियों से गूँजा करता था, लेकिन मैं उस पर ध्यान न देकर चुपचाप नीली वरदी के 'माल आया', 'माल नहीं आया' कह देने भर से अपनी मुक्ति कर लेता था। हर शाम होते-होते मैं कमरे के बाहर निकल पड़ता था। दूसरे दिन सुबह फिर खाली डिब्बा मेरी मेज़ पर रक्खा हुआ मिलता था।

दफ़तर के कलेण्डर का पुराना पड़ जाने वाला एक पन्ना फाड़ दिया गया। महीना बीत गया। साठ रुपिए की तनख्वाह मुझे भी मिली। दफ़तर का काम उसी लय में चल रहा था। सिर्फ़ एक फ़र्क मुझे अब दिखायी पड़ता था। सरदार जी, मोटे बाबू ब्रजलाल और तितली मार्का मूँछों वाले रस्तोगी जी शायद मुझे घृणा की निगाहों से अब देखते थे। वे समझते थे कि मैं ख़ामख़्वाह उन पर रंग जमाने की और उनसे अपने आप को अलग साबित करने की कुचेष्टा कर रहा हूँ। वे तीनों आपस में बातें करते—कभी धीरे कनफुसकियों में हँसते और मैं चुपचाप या तो माल गोदाम के रजिस्टर या "रीडर्स डाइजेस्ट" में मुँह छिपाए बैठा रहता। शायद यह दिखाने की कोशिश करता था कि मैं कुछ भी नहीं देख रहा हूँ। एक दिन मेज़ पर रक्खे हुए काले डिब्बे से हाथ छू गया—एकाएक ऐसा लगा कि जैसा ए० सी० करेण्ट छू गयी हो। सामने देखा—तीनों अपना काम कर रहे थे। सब की निगाहें बचाकर चोरों की तरह वह डिब्बा उठा कर मैंने अपनी मेज़ के नीचे डाल दिया।

दूसरे दिन सुबह जब फिर दफ़तर पहुँचा तो मुखर्जी बाबू ने मुझसे कहा कि वे कुछ बातें करना चाहते हैं इसलिए दफ़्तर बन्द होने के बाद मैं ठहर कर जाऊँ। मैं जानता था कि वे क्या बातें करेंगे। मेरी मेज के नीचे से उठकर वह डिब्बा फिर मेज के ऊपर आ गया था। सरदार जी मेरी तरफ घूर रहे थे। उनके देखते-देखते मैंने डिब्बा उठाकर फिर नीचे रख दिया।

मुझसे आँखें चार होते ही उन्होंने अपनी निगाहें चटपट अपने सामने के रजिस्टर पर गड़ा लीं।

शाम का बँटवारा हो गया। तीनों अपने-अपने घर चले गए। मैं बाहर बरामदे में टहल रहा था। इन तीनों आदमियों के जाते ही मैं भीतर घुसा। बंगाली बाबू मुझसे बातें करने के लिए बैठे थे। बड़े प्रेम से पास बैठाते हुए बोले—

"बैइठो, बैइठो न गिरीश बाबू। कहिए आपकी हालचाल कीश रोकम चल रहा है?" आँखों पर से गोलफ्रेमी इलेस्टिक वाला चश्मा उतार कर धोती की एक कोर से पोंछते हुए वे आगे बोले—"भाई बात ई है न, कि हम शॉब का घर तो रोज जाने नेंई सकता। शो हेंई पर शाब का हाल-चाल पूँछ लेता है। यू सी गिरीश बाबू, दिस इज़ ए बिग फेमिली। आफिश का शाब लोग एक बोड़ो परिवार का माफिक है। हमरा के दूख तुम जानो, तोमरा के दूख शूख हम जानी।"

मैंने बीच में हुङ्कारी भरी। मुखर्जी बाबू चश्मे के शीशे को अब भी माँजते ही चले जा रहे थे—

"अभी तो तुम नया-नया यूनीवर्शिटी से पाश किया है। जे फेमिली का रीशपोंशबिलिटी तुम नेंई जानता। बाबा!! जितना इज़ी लाइफ़ आपना के जानी ऊतना नेंई होता। हमारा फिफटी इयर्स का तजूरबा है।"

मैं चुपचाप सुन रहा था। पचास साल का तजुरबा मुफ्त हाथ आ रहा था। मैं ध्यानलीन हो गया। बँगाली बाबू ने बाँह उठाकर बगल खुजलाते हुए कहा—

"जब तोम्हरा फैमिली होइगा तब तूम शमझेगा गिरीश बाबू! जब तोम्हारा चाइल्ड को दूध का जरूरत होगा, जब तोम्हरा जोरू का तन खातिर कपड़ा का जरूरत होगा, तब तुम नेंई बोलेगा कि जे हमरा को ईश काला डिब्बा का जरूरत नेंई है। आपना व्हाइफ को तूम अच्छा फूड नेंई देगा, वो बीमार होगा, अजार होगा, तुम ऊशको पीक्चर नेंई ले जायगा, वो तूमशे नाराज होगा, मगर येई शाठ रुपिया में तूम कुछ नेंई कर शकेगा।

जब तोम्हरा शूट बूट खतम होइ जाइगा, जब 'डि० एस०' तूम को 'शैबी' बोलेगा, तब तूम नोंही कहेगा कि जे हमरा के काला डिब्बा का जरूरत नेंई है। गिरीश बाबू! ई काला डीब्बा हमरा के कीशमत है, जब औ आइ जाइ। हम माँगना खातिर नेंई जाते। वो ही परमात्मा भेजता है। ये तो हमारा हक है।"

आज मैंने खुलकर विरोध कर देना चाहा—

"लेकिन देखिए बंगाली बाबू! यह तो बड़ी अजीब बात आप कर रहे हैं! आखिर तनख़्वाह······"

कहते-कहते जोश में मेरा हाथ पतलून की जेब में चला गया। हाथ में एक अठन्नी आ गई थी। तनख़्वाह में से पचपन बाबू जी को दे दिए थे। पाँच रुपिया अपने खर्च के लिए मिला था। साढ़े तीन साइकिल की मरम्मत में चला गया था। एक रुपया शाम के नाश्ते में निकल चुका था। अब आठ आने बचे थे जिनसे महीने के बीस दिन अभी काटने थे। बंगाली बाबू ने बीच से ही मेरी बात काटते हुए कहा—

"तनख्वाह?······शाठ शे नब्बे रुपिया! हद्द जायगा, हद्द जायगा तो एक शौ दश जायगा······शो भी हमरा के उमर में! तुम यंगमैन है! तोमरा के अन्दर अपना जवानी का एंबीशन होगा! कैशे आपना के गुजर करेगा? यू कांट राइज! तुम पड़ा-पड़ा शड़ेगा! तोमरा पाश कोई तोरीका नेंहीं होगा कि जे तूम आगे को बढ़े। शाब पोइशा का खेल है गिरीश बाबू! रश्तोगी बाबू पोइशा लेता है, वो ही पोइशा वो अपना चाइल्ड पर, अपना व्हाइफ पर खर्च करता है। शाब शूखी रहता है! ऊशका भी दफ़्-तर में मन लगता है। ठीक काम करता है। जे 'गूड रिमार्क' पाता है!! जेब में चार छः नोट रखता है। जब कम्पनी से डी० एस० आता है तब रश्तोगी बाबू वो ही पोइशा शे डी० एस० का खातिर तवाजा बोलता है! तोमरा पाश पोइशा नेंई है। तूम बोई को पान सिगरेट नेंई खिलाएगा। चा नेंई पिला-एगा! तब बोलो न, तरक्की कौन करेगा, तूम कि रश्तोगी बाबू? कैशे तूम आपना जिन्दगी पार करेगा बाबा?······जे ये ई शाठ रुपिया मोहीना?"

अपनी आँखों के सामने "थ्री डाइमेन्शल" फिल्म बिना रंगीन चश्मे के देख रहा था ! आवाज़ें और सामने की लीपापोती हुई भविष्य की तस्वीरें ! घबड़ाकर मैंने सिर झटक दिया। नीली वरदी ने बाहर की एक गुमटी-नुमा दूकान से दो प्याली चाय लाकर रख दी थी। चाय पीते हुए बंगाली बाबू ने फिर अपना सेंटीमेंटल भाषण शुरू किया—

"हमरा के जब ई शर्बिश ज्वाइन किया तब हम भी बड़ा-बड़ा शपना लेकर हियाँ आया था। हमरा अँकिल बोला था जे हियाँ बड़ा-बड़ा पोशीबिलटीज़ है, मानूश काबील होए तो जे डी० एस० तक होने शकता है। पर शाला काबील शाबील किछू नेंई ! शाब पोइशा का खेल है !"

उनकी बातें ऐसी नहीं थीं जो मेरी समझ के बाहर रहीं हो ! क्लास में तो मैं इससे भी टेढ़ी बातें समझने के लिए मशहूर था ! फिर भी मैंने आख़िरी ज़ोरदार तर्क दिया जिससे वे डर कर ही मेरी बात मान जाँय !

"बात यह है बंगाली बाबू ! कि मैं यह भी मान लूँ कि आप जो कुछ कह रहे हैं वह सब ठीक है, फिर भी आपको पुलिस का डर तो होगा ! आजकल एंटीकरप्शन वाले सब जगह घूमते रहते हैं। कहीं एक दिन आकर किसी ने दबोच लिया तो हम सब के सब कहीं के न रहेंगे।"

मेरी यह दलील सुनकर बंगाली बाबू फिर बाँह उठाकर बगल खुजलाते हुए बड़ी ज़ोर से हँसे। उनके पोपले गाल हँसी के फ़ौवारे से उसी तरह फूल गए जैसे एकाएक किसी भूकम्प से कैस्पियन सागर में पामीर का प्लेटो निकल आए। उनकी इस बेतरह हँसी से मैं घबड़ाया हुआ था; सोच रहा था कि मैंने सचमुच कोई बड़ी बचकानी दलील दी है। बंगाली बाबू बोले—

"बा रे गिरीश बाबू बाह ! ठीक है, ठीक है। तूम नया-नया यूनि-बर्शिटी से आया है।...अच्छा शुनो—एक किस्सा शुनो।

"बहोत दिन पोहिले का बात है जे हमरा कलिकता में एक ठो शेठ था। ओई को एक दिन मोलाई खाने का शौक हूआ। शे बोला जे ईशका बाश्ते एक ठो नौकर होना चाही जे हमको रोजीना दुइ आना का मोलाई

लाय कर खिलावे। नौकर का तोनखाह बोला जे एक रुपिया मोहीना। नौकर जब एक रुपिया मोहीना में भूखा मरने लगा तब ऊशने एक चालाकी बोला! वो रोज एक आना का मौलाई शेठ खातिर लाये और एक आना दबाय ले। शेठ को शक पड़ा कि ई नोकर जरूर कुछ पोइशा खाता है। शे एक नोकर शेठ ने इस खातिर दुइ रुपिया का और लगाया कि वो देखे कि मोलाई लाने में शेठ का नौकर कितना पोइशा खाता है। नौतीजा जे हुआ जे दूनों नौकर मील गए। बड़ा नौकर बोला जे छोटा नोकर! एक आना हमको देव। दुइ पोइशा तूम लेव और शेठ को शिरफ दूई पोइशा का मोलाई लावो। अब शेठ दुइ पोइशा का मोलाई खाने लागा। धीमें-धीमें जब शेठ दुइ पोइशा का मोलाई खाता-खाता घबड़ाइ गया तो उशको फीर शक पड़ा कि जे ई दूनों नौकर जे पोइशा खाता है। शे अब की बार शेठ ने तीन रुपिया का एक और नौकर रक्खा जिशको ऊ बोला जे तूम ईन दोनों नौकर का बौदमाशी पकड़ो। ई तीशरा नौकर पढ़ा लिखा चालाक मानूश था। ई दुनों नौकर को बुलाया और पूछा-जे ठीक-ठीक शाब बात बोलो नोहीं तो तोमरा के जे करूँगा और जे करूँगा।' छोटा नौकर बड़ा नौकर दूनों डर का मारे शाब ठीक-ठीक बोल दिया। तब शबशे बड़ा नौकर बोला--जे शुनो। अब शे एक आना हमको देव, दुइ पोइशा बोड़ा नौकर और एक पोइशा छोटा नौकर को मिलेगा। बाकी एक पोइशा का मोलाई शेठ को हम खिलाएगा। ईशको शून कर छोटा नौकर और बड़ा नौकर बोला—जे सरकार। एक पोइशा का मोलाई शेठ कैइशे खायगा? ओ बोड़ा हल्ला गुल्ला करेगा। मगर साब से बड़ा नोकर तो पढ़ा लिखा चालाक मानूस था न! वो बोला—तून किछू चिन्ता मत करो। अपना पोइशा ले लो और हमरा के पोइशा हमके दे दो। हम शाब ठीककर देगा। अब शाब से बड़ा नौकर क्या किया कि जे धेले का मोलाई का झाग लाया और धेले का सोने का नींद का नशा लाया। शेठ के पीने का पानी में ओही मिलाय दिया। शेठ नशा पीकर नींद में खोइ गया। तब वोही नौकर ने ऊश झाग को सेठ का मूँछा में खूब मल दीया। दूसरे दिन सेठ

शाब ने वड़ा नोकर को सुवह बोलाया और बोला जे उशका मोलाई रात में नोही आया। शबसे बड़ा नौकर बोला कि 'हजूर आप नींद में था—मोलाई आप खाया था'''भूल गया है आप। आपका मोंछा पर अब तक मोलाई का भाग लगा हुआ है। अब तो शरकार आपका शभी नौकर जे वहोत ईमानदारी से काम करता है। आपका फिजूल शक पड़ गया। शेठ आइना देखा तो मोलाई का भाग ऊशका मोंछा में इधर-उधर फँशा था। शेट शमभ लिया कि जे ओ मोलाई खाय चुका है। ईस माफिक शेठ ने छोटा नौकर की तनखोह नोही बढ़ाई, बलुक ऊशका ऊपर और ज्यादा पोइशा का नौकर लगाता चला गिया। नोतीजा जे हुआ कि तीनों मील कर शेठ का माल खाने लगे। और शेठ को जो मोलाई मिलता था ऊशसे भी वो हाथ धोया। शिरीफ ऊशका मोंछा में मोलाई का भाग रह गिया। किछू समभा गिरीश बाबू?"

मैं अब बंगाली बाबू की वेतहाशा हँसी का कारण समझ रहा था। उनकी निगाहों में मेरी दलील सचमुच बचकानी थी। मेरी जवान सुन्न थी! पचास साल के तजुर्बे के सामने मेरे क्लास के तमाम सुने हुए भाषण एकदम वेकार लग रहे थे।

बंगाली बाबू उठ खड़े हुए—"चलो--चलो न। गिरीश बाबू! उठो-उठो न।" मेरी पीठ थपथपाते हुए बोले—"अब काल से तोमरा मेज पर ओ काला डिब्बा धराय देगें? है न।"

हाँ, हूँ करते मैं बाहर आ गया।

दो दिन से मैं कैजुअल-लीव लिये बैठा हूँ। दफ़्तर जाने की हिम्मत नहीं पड़ रही है। ज़रूर वह काला डिब्बा मेरी मेज़ पर चढ़ आया होगा।

दो रात से बराबर वे काले डिब्बे एक चरखी में घूमते दिखाई पड़ते हैं। उन्हीं काले डिब्बों के चक्कर से बंगाली बाबू का वह हँसता हुआ चेहरा बन जाता है जसमें उनके पोपले गालों में पामीर के उभरे हुए

प्लेट्र दिखाई पड़ते हैं। फिर एकदम क्षीर समुद्र दिखाई पड़ता है। वे काले डिब्बे खो जाते हैं। और देखता हूँ कि मलाई की झाग उठ रही है। एकाएक एक बड़ी-सी काली मूँछ डकोटो प्लेन की तरह आती है और मलाई की झाग समेट कर चली जाती है। मूँछें मेरे कान में घुस जाती हैं और मैं उसकी गदगुदी से क़ान खुजलाता हुआ जाग पड़ता हूँ।

बाबू जी कहते हैं—

"दफ़तर से छुट्टी लिये क्यों बैठे हो? नई-नई नौकरी में बिना मतलब छुट्टी लेना अच्छा नहीं।"

मैं कहता हूँ—"मेरी तबीयत ठीक नहीं है।"

"क्या ठीक नहीं है? आख़िर हुआ क्या है?" वे पूछते हैं।

मेरे पास कोई जवाब नहीं है।

"आजकल के लौंडे काम से भागते हैं। जी चुराते हैं," कहते हुए आँगन में चले जाते हैं।

मेरे पास इसका भी कोई जवाब नहीं है।

सड़ा रबड़

जहाँ तक अपना बस चलता है मैं बाज़ार जाने से बराबर कतराता हूँ। एक बार का बाज़ार जाना और दिन भर यह सुनना कि रुपये को मैं पानी में फेंक कर चला आया हूँ, दोनों ही मेरे बूतें के बाहर की बात है। इस सबके लिए अकेले ताऊ जी ही काफ़ी हैं। मैं तो समझता हूँ कि अगर उनका घर बीच-बाज़ार में होता तो वे संसार के अन्यतम सुखी प्राणियों में से एक होते! जब तक उनका सामर्थ्य रहता है, तब तक वे किसी दूसरे का बाज़ार जाना नहीं देख सकते! अभी-अभी बाज़ार से लौटे और अभी ही बाज़ार का दूसरा धंधा निकल आए, तो समझिए कि किसी अच्छे का मुँह देख कर वे उठे थे। खरीदने में ताऊ जी अपना सानी नहीं रखते—चाहे उनसे ज़मीन जायदाद खरीदवा लीजिए और चाहे दो पैसे में पाँच मूलियाँ मँगवा लीजिए—सब ओर उनका समान अधिकार है! अपनी हर ख़रीद के पीछे वे एक ऐसा किस्सा और करतब बताते हैं जिससे सुनने वाला यही समझता कि जिस ठाठ से ताऊ जी दो पैसे में पाँच मूली ले आए हैं, उस तरह भला पोरस ने सिकन्दर को क्या छला होगा! बाज़ार ही उनके शौर्य का अखाड़ा है, बाज़ार ही उनका घर है, बाज़ार ही उनकी मंजिल है और बाज़ार के किस्से ही उनकी ज़िन्दगी है!

बंसीधर मेरे बचपन के दोस्त थे। पूरब के किसी ज़िले में मास्टरी का

काम करते थे। अपनी छुट्टी बिताने की ग़रज़ से मेरे पास दो-तीन हफ़्ते के लिए आये हुए थे ! मास्टर तो यूँ भी बात के धनी होते हैं मगर वे ज़रूरत से ज़्यादा धनी थे—यानी बात के अलावा उनके पास और कुछ न था ! बाज़ार के शौक़ीन बंसीधर भी काफ़ी थे, इसीलिए ताऊ जी से उनकी ख़ूब छनती थी। बात के धनिकों की भनक मेरे कान में भी पड़ती—

"ग़लीचे···ग़लीचे तो समझो बंसीधर जब तक मिर्ज़ापूर जाकर आदमी न ख़रीदे तब तक असली मिल ही नहीं सकता। वहाँ से चला नहीं कि बस बीच के व्योपारी बदल देते हैं !···चीज़ जहाँ तैयार होती हो वहीं से खरीदवाना चाहिए !···देखो मेरा यह जूता जो है कानपूर से मँगवाया था···मेरा भाँजा है एक शू फ़ैक्टरी में ! उसी ने ख़ास तरह से बनवाया था। अब सोलह साल हो गए इसको, मगर जो कहीं से जुम्बिश खाया हो !"

"ताऊ जी, अब तो सब बड़ी बेईमानी करते हैं ! नीचे दफ़्ती भर देते हैं, ऊपर से चमड़े की चिप्पी लगा देते हैं ! ईमान उठ गया है !"

"बंसीधर, परखने वाला सब परख लेता है ! जूता ले तो सिलाई तोड़ कर देखे ! तभी असली और नक़ली माल की पहिचान होती है !"

फिर बातें पलट जातीं—

"संतरे यहाँ अच्छे आ ही नहीं पाते ! बुटवल वाले अगर आ भी गए तो ये सब मनमाने दामों पर बेचते हैं ! बड़े चाईं हैं ये सब फल वाले। आदमी न जानें तो ये खड़े बाज़ार बेंच लें !"

"अरे हाँ, हाँ···ये सब बड़े बेईमान होते हैं····ऊपर तो झाबे में सब अच्छे-अच्छे संतरे रख देते हैं, और—ज़रा नीचे देखिए तो बस-सब गले-सड़े, दाग़ी और पिलपिले यही भरे रहते हैं ! संतरा ले तो पहिले टोकरी उलटवा कर देखनी चाहिए !"

"इनसे तो रुपये का भाव करना चाहिए ! पूछा रुपये में कै दिए ? बताया उसने आठ ! तो तुम सोलह से शुरू करो ! ग्यारह तक पर पट जायगा ! फिर आठ आने के ले लो ! दाँता किटकिट करने पर आठ आने

के छः मिल जायेंगे । अब यही हमारे भइया जायँ तो रुपये के छः लेकर चले आएँ !"

"आदमी का मुँह देख'कर यह सब बात करते हैं ! जान लिया कि यह टोकरी उलटवा कर देखेगा तो बस फिर सीधे मुँह बातें करते हैं !"

उस दिन शाम को ताऊ जी को कहीं जाना पड़ गया था । बंसीधर ने मुझसे घूमने चलने का प्रस्ताव किया । घूमने के लिए मैंने उन्हें दो-चार पार्क बताए, गंगा-जमुना का किनारा बताया, सिनेमा, थियेटर बताया ! मगर उन्हें एक न रुचा ।

बोले—"बाज़ार चलो !"

मैंने पूछा—"कुछ काम है ?"

बोले—"कुछ नहीं यूँ ही !"

मरता क्या न करता की ध्वनि साम्य लाते हुए मैं बोला—"चलो !"

मोटर गाड़ियाँ और इक्कों से अपने प्राणों की रक्षा करते हुए, बाएँ-दाएँ चलने के वसूलों को रटते हुए, हम लोग बाज़ार जा पहुँचे । सामने एक दूकान थी जिस पर दरियाँ टँगी हुई थीं और एक किनारे कुछ तह की हुई भी रक्खीं थीं ! बंसीधर ने प्रस्ताव किया—

"आओ ज़रा दरियाँ देखी जायँ ।"

मैंने कहा—

"दरी लेकर क्या करना है ?"

वे कुछ भौं सिकोड़ कर बोले—

"लेकर क्या करना है ? अजी बाज़ार आए हैं तो ज़रा भाव-ताव पूँछते ही चलें । आखिर हर्ज क्या है ?"

मैं कुछ ननुनच करूँ इसके पहिले ही वे दरी की दूकान पर थे । "जनरल नालेज" बढ़ाने के लिए एक दरी की तह खोलते हुए उन्होंने पूछा—

"कैसे दी ?"

"यह ? बाबू जी तेरह रुपये नौ आने की है ! असली सूत है ! दस

साल तो गारन्टी है जो एक जगह से भी सूत अलग हो जाय।....और डिज़ाइन देखना चाहें तो........"

"अरे भाई ! तुम तो लूट मचाए हुए हो ! सात-सात रुपये की दरी तो ऐसी मिलती है कि कालीनें क्या उसके मुक़ाबिले में ठहरेंगी ?...और यह जो तुमने रख छोड़ी है यह तो बटे हुए सूत की है ! पुराना सूत है। नया थोड़े ही है ! चार दिन में फुचड़े ही फुचड़े हो जायँगे ! और दाम आप लगाए हैं चौदह रुपए ! इसमें है क्या ?"

इतना कहते-कहते बंसीधर ने उस दरी की बिनाई को पूरी शक्ति से खींच कर उसमें एक जगह साँस कर दी !

"नहीं बाबू जी ! यह असली नया सूत है ! कम्पनी का बना हुआ माल है कोई हमारे घर में तो बनती नहीं है साहब ! सब कुछ गारन्टी के साथ है। माल निख़ालिस न निकले तो पूरे दाम पर वापस—औने-पौने भी नहीं !....यह तो कम्पनी का क़ायदा है बाबू कोई मेरी दूकान का तो है नहीं !"

बंसीधर ने दूसरी दरी की तह खोलते हुए कहा—

"नहीं भाई ! दाम बहुत ज़्यादा लगा रक्खा है ! इतने दाम में तो दो दरी आ जायँ।....अच्छा इसका क्या दाम है ?"

"यह है चौदह रूपए दस आने की !"

"अरे तुमने तो एकदम अंधेर ही मचा दी है ! बहुत दाम लगाए हो भाई।....अच्छा कुछ कम दाम वाली दिखाओ !"

दूकानदार ने दरी की तह को खोलते हुए कहना शुरू किया—

"यह है सात रुपये छः आने, यह ग्यारह नौ आने, यह दस की, यह भी दस की, यह नौ रुपये छः पैसे, यह दस रुपये दस पैसे यह...."

बंसीधर के चारों ओर खुली हुई दरियों का ढेर लगा हुआ था और उस ढेर के बीच वे द्रौपदी की तरह बैठे हुए थे। एकाएक वे एक दम वीतराग की भाँति उठ खड़े हुए।

"नहीं भाई !....यह सब बेकार है ! इन दरियों को लेने से अच्छा है

कि किसी जेल की बिनी हुई दरी ले ली जाय! कम से कम कुछ तो चलेगी! यह तो बिल्कुल वाहियात हैं।"

"आपकी मर्ज़ी!"

बंसीधर उठकर दूकान से बाहर आ गए। हाथ आई चिड़िया निकल जाने पर वह दूकानदार हाथ मलता हुआ दरियाँ तह करके रखने लगा। उसकी सारी दूकान उल्टी पड़ी थी और बंसीधर का दिमाग़। मुझे दोनों पर ही तरस आ रहा था। रास्ते में बंसीधर एकाध जगह और ठहरे। कुछ मोल-तोल की फिर आगे बढ़ गए। एकाएक मुझसे बोले—

"एक मोटर लेनी है। किधर मिलेगी?"

मैं घबड़ा गया।

"मोटर?...आपको लेनी है?"

"अजी वही खिलौनें वाली मोटर!...चलने लगा था तो बिटिया बोली कि चाचा जी मोटर ले आइएगा। सोचता हूँ मोटर लेता ही चलूँ। किधर है खिलौनों की बाज़ार?"

मैंने टालना चाहा। पर वे अडिग थे!

"आइए।" मैंने एक साँस खींच कर कहा।

एक दूकान पर सामने ही तरह-तरह की छोटी बड़ी मोटरें, रेलगाड़ियाँ, बैलगाड़ियाँ—सब सामान रक्खा था। मैंने कहा—"जो कुछ लेना हो, जल्दी ले लो! देर हो रही है!"

"अरे लेते हैं, लेते हैं। पैसा दे रहे हैं तो ज़रा ढंग से चीज़ ख़रीदनी चाहिए। एक बार की जल्दी हमेशा परेशान करती है! आज खिलौना लिया दो महीना भी न चला तो पैसा पानी में फेंकना ही हो गया!"

मुझे ताऊ जी की याद आ गई! मैं चुप हो गया। उधर वे दूकानदार से पूछ रहे थे—"क्यों साहब, यह पेंच से चलने वाली मोटर है?"

"जी हाँ!"

"मगर इसका स्प्रिंग तो बहुत रद्दी है! "इंडियन" मालूम पड़ती है! कोई इंग्लिश-मेक हो तो दिखाइए। है?"

"हाँ, हाँ इंग्लिश भी है! देखो ज़रा ऊपर चढ़ कर इंग्लिश ट्वाय मोटर निकालना तो।" दूकानदार ने अपने नौकर को सीढ़ी लगा कर ऊपर चढ़ने का आदेश दिया। नौकर किसी तरह ऊपर चढ़ गया। दूकानदार बताने लगा। मैं बंसीधर के साथ खड़ा खड़ा तमाशा देखने लगा।

"अरे वह··· और ऊपर वाला डिब्बा निकालो। नहीं नहीं···यह तो कैरम की गोट है···यह नहीं···वह बग़ल वाला···अबे यह तो गुड़िया है··· उसके नीचे वाला डिब्बा निकाल··· पीला लेबिल वाला···अबे उल्लू पीला लेबुल, पीला कह रहा हूँ और निकाल क्या रहा है?··· अरे उसको ठीक से भीतर तो कर दे···देख-देख···"

तब तक तीन डिब्बे ऊपर से नीचे गिरे। कैरम की बहुत सी गोटें ज़मीन पर बिखर गईं। दूकानदार का पारा कुछ और ऊपर चढ़ा।

"अबे उल्लू के पट्ठे!···सब नुकसान ही करके मानेगा? वह बाँया हाथ वाला चौथा पीला लेबिल वाला डिब्बा नहीं उतार सकता क्या?···दस दिन हो गए अब तक साले को काम नहीं आया··· उतार वह चौथा डिब्बा···अबे-अबे···"

एकाएक घबराहट में सीढ़ी लिए कई डिब्बों के साथ वह नौकर नीचे आ रहा! "हाँय-हाँय अरे, अरे मरे-मरे···" का वह शोर मचा कि मैं क्या बाबू बंसीधर भी चक्कर में आ गए! पूरी घटना का तब ज्ञान हुआ जब देखा कि लेमन ड्राप्स से भरे हुए शीशे के जो जार रक्खे हुए थे वे सब मेज़ पर से नीचे आ गए थे! कैरम की गोटों के साथ लेमन ड्राप्स और शीशे के टुकड़े बिखरे हुए थे। दूकानदार ने अपने नौकर का गला पकड़ रक्खा था और मैंने बन्सीधर का हाथ! वह उसे दूकान से बाहर कर रहा था और मैं बंसीधर को!

दोनों चुप थे। मैं भी और वे भी। खिलौना बाजार से निकलते-निकलते भी उन्होंने एकाध दूकानों से लकड़ी की मोटर उठा कर देखी पर

दूसरे ही क्षण उसे रख कर वे आगे बढ़ आए ! खुली हवा का कुछ अनुभव होते ही वे बोले—

"बिटिया को लेकर आएगें तब वही पसन्द करेगी !"

मैंने कहा—"हूँ" ।

"गुब्बारे बिक रहे थे ।" बंसीधर ने कहा—

"एकाध गुब्बारे ही लेता चलूँ ।"

मैंने कुछ न कहा । उन्होंने गुब्बारे वाले से कहा—

"क्या हिसाब दिए ?"

"आने-आने !"

हाथ से छूते हुए उन्होंने कहा—

"ये गुब्बारे तो बिल्कुल रद्दी हैं । इसका तो रबड़ सड़ा हुआ है ! एक मिनट में फट जायगा ।"

"नहीं बाबू जी !"

"नहीं क्या !" उन्होंने आज़माइश के लिए एक गुब्बारा लेकर दबा दिया । गुब्बारा भड़ से फूट गया ।

"बाबू जी, इसकी इकन्नी दीजिए !"

"इकन्नी क्यों दूँ, तुमने तो कहा था कि · "

"आपने दबा दिया । दबाने से तो फूट ही जायगा ।"

"मैं इकन्नी विकन्नी कुछ नहीं दूँगा ।"

उसने लपक कर बंसीधर का कोट पकड़ लिया । बात बढ़ जाने के डर से उन्होंने इकन्नी फेंकी और लपक कर मेरे साथ रिक्शे में बैठ गए !

"बड़े बदतमीज होते हैं ये सब ! इनके मुँह नहीं लगना चाहिए !"

मैंने कहा—"हूँ" ।

रात को खाना खाने के बाद वे ताऊ जी से बातें कर रहे थे—

"आजकल दरियाँ तो कालीनों के भाव बिक रही हैं ताऊ जी ।··· बाजार का रंग ही बदला जा रहा है !···बच्चों के लिए खिलौना लेने

जाइए तो वह भी बाबा के मोल····और ईमानदारी····? ईमानदारी तो न पूछिए !! दो कौड़ी की चीज़े आती हैं दाम मगर न पूछिए···गुब्बारे तक सड़े रबड़ के बनाते हैं सुसुरे !"

और मेरे सामने सड़े रबड़ पर बंसीधर की भरपूर ज़ोर आजमाइश की तस्वीर घूम रही थी !

●

मंगलग्रह के साहित्यकार से इण्टरव्यू

अपने यहाँ पहले ही पुराणों में कहा गया है कि कलियुग के चौथे चरण में गप के विकास में सहसा गतिरोध दिखाई पड़ने लगेगा और दैवी चमत्कारों से यह विद्या नाश को प्राप्त हो जायगी। और देखिये कि अपने ही यहाँ एक वह ज़माना था जब गप विद्या के जानने वाले राजमहलों में सम्मान पाते थे। ये गप विद्याप्रेमी राजा महाराजाओं के साथ वक्त-बे-वक्त गप लड़ाते थे। एक वह दिन था और एक आज का दिन है कि जब टाइम बाँधकर गप लड़ाने को कहा जाता है। कुछ कहिए तो जवाब मिलता है "युग की माँग है।" लेकिन है यह ऐसी टेढ़ी माँग जो गप विद्या का नाश करके छोड़ेगी।

अगर खोदाई करके गजलों और प्रेमगीतों को निकालिये तो शायद आपको भी यह भ्रम हो जाय कि ज़माने ने सबसे ज़्यादा निठुराई आशिकों के साथ बरती है। लेकिन क़िस्सा दरअसल यह है कि ज़माने ने गप्पों के साथ जितना निर्मम व्यवहार किया है वैसा क्या किसी आशिक के साथ वह करता? पहले की उड़ाई हुई गप्पों को ज़माने ने एक-एक करके जो सच्ची साबित करना शुरू किया तो आज नौबत यह आ गयी है कि आप लाख गप उड़ाइये लेकिन जनता उसे हमेशा सच्चा समझेगी। झूठ और सच का भेदभाव मिट गया। आज अगर आप यह क्लेम करें या घोषित करें

कि आपके बाबा के पास एक अस्तबल है जिसमें हिन्दुस्तान के सभी घोड़े रखे जाते हैं तो ताज्जुब नहीं कि दूसरे दिन यूनिवर्सिटी वाले छात्रालय खोलने के लिए आपसे उसकी माँग कर बैठें। और कहीं आपके साथी गप्पी कलाकार ने सफलतापूर्वक इसका प्रचार कर लिया कि उनके पास वह बाँस था जिनसे वे बादलों को खोदकर पानी बरसाया करते थे तो यकीन मानिये कि उनको किसी न किसी देश से बुलावा आ जायगा कि वे आकर अपने बाँस की पूरी 'आइडिया' उस देश के खोजज्ञ वैज्ञानिकों को समझायें। नतीजा यह होता है कि इसमें गप यानी विशुद्ध गप की हत्या हो जाती है। बीरबल ने बादशाह को जिस तरह पहले शहद में डुबोया फिर रुई पर लोटाया और उनको अचंभे का बच्चा बना सारे शहर को तमाशा दिखाया था, उसको आप लाख चाहकर भी आज के इस प्रयोगवादी युग में गप नहीं साबित कर सकते। आये दिन एक अचम्भे का बच्चा पैदा होता रहता है और हम आप उसकी बात गप मानकर नहीं सुनते''हालांकि जी तो बहुत चाहता है। ज़माने ने ही हमारी बुद्धि ऐसी हर ली है कि हम आप गप भी नहीं समझ पाते।

इसीलिए मैं आपको गप्प नहीं सुनाता हूँ कम से कम अपनी तरफ से तो मैं इसको कतई गप नहीं मानता हूँ।

यूं रतौंधी मुझे कभी होती नहीं थी और आज भी उससे अपना लगाव नहीं के बराबर मानता हूँ, लेकिन उस रात की घटना ने मेरे विश्वास को थोड़ा डिगा दिया। एकाएक क्या देखता हूँ कि एक छोटा-मोटा सूरज आसमान में तेजी से चक्कर लगा रहा है। कागज़ कलम लिये हुए दिमाग खरोंच रहा था क्योंकि एक 'स्क्रिप्ट' तैयार करनी थी। ध्यानमग्न तो ख़ैर मैं होता ही नहीं, लेकिन फिर भी ख़्याल आया हुआ था। तभी वह चकर-घिन्नी काटता हुआ सूरज ख्वामखाह 'डिसटर्ब' करने लगा। पहले कुछ सहमा फिर दिल को हिम्मत बँधायी कि हो न हो इस वक्त मेरे ऊपर ज्ञाना-लोक उतर रहा है और बिना वटवृक्ष की छाया में गये कमरे में ही बैठे बिठाये अज्ञान दूर होने जा रहा है। मैं जान गया कि मेरी भी घड़ी आ

गयी है। अब थोड़ा ग़ौर से देखा। पता चला, उस रोशनी के गोले में एक दरवाज़ा भी है। एकाएक दरवाज़ा खुला और उसमें से एक दढ़ियल किस्म की चीज एक वाहियात सा लबादा ओढ़े उतरकर आसमान में इस तरह चलने लगी कि जैसे वह सीढ़ियों पर से उतर रही हो। ज़माने की मार से सच-झूठ का भेदभाव भूल जानेवाली मेरी बुद्धि फिर चकरायी लेकिन तभी आधुनिक-पत्रा यानी अख़बार की ख़बर ने याद आकर मेरी सहायता की। मैं समझ गया कि आजकल उड़न तश्तरी के लोग घूम-घूमकर लोगों से मिल रहे हैं। पहली बार फ्रांस गये तो दूसरी बार अब हमारा नम्बर है। मैंने समझ लिया कि इस उड़नतश्तरी से उतरने वाला दढ़ियल ज़रूर किसी ग्रह का निवासी है। मैं कमर कस तैयार हो गया। अगर मुझे यह पता चल जाय कि मुक़ाबला करने वाला इस धरती का नहीं है तो मैं हमेशा भिड़ने को तैयार रहता हूँ।

दढ़ियल सीधे मेरे कमरे में घुसता दीखा। मैं खड़ा हुआ यह कहने के लिए कि "कहिये कौन हैं?" और घबराहट में कह गया "आइये बैठिये। उसके मुँह से पहले कुछ कूँ कूँ या चूँ चूँ जैसी ध्वनि निकली फिर उसने शुद्ध हिन्दी में कहा 'धन्यवाद।' शून्य में ही वह बैठ गया। मैं अब तक कुछ पूछने के लिए सँभल नहीं पाया था। उसने अपने आप ही अमोघ-वाणी में घोषित करना प्रारम्भ किया:—

"हे प्राणी। मैं मंगल ग्रहका साहित्यकार हूँ।" साहित्यकार नाम सुनते ही मेरी जान में जान आयी। समझ गया अब जान का ख़ास ख़तरा नहीं है, भले ही माल का हो जाय। पहले कूँ कूँ में बोलकर फिर बाद में अनु-वाद करते हुए उसने आगे अपने परिचय में कहा—

"हमारे यहाँ नाम नहीं होते इसलिये मेरा नाम भी कुछ नहीं है। आज के इस सेकेंड में, क्योंकि हमारे यहाँ दिन नहीं होते सिर्फ़ सेकेंड ही होते हैं, हम लोगों को अन्तर्ग्रह स्तर पर साहित्यकारों से भेंट करनी पड़ती है। इसीलिए आज तुमसे मिलने आया हूँ।"

उसके इस कथन से सबसे बड़ी खुशी मुझे यह हुई कि चाहे यह धरती

मुझे साहित्यकार माने या न माने लेकिन अन्तर्ग्रह स्तर पर मैं साहित्यकार माना जाने लगा हूँ। किसी भी साहित्यकार का अहंभाव संतुष्ट करने के लिए इससे अच्छा वाक्य नहीं कहा जा सकता जिसके उपलक्ष्य में वह तत्काल चाय पिलाने के लिए पूछता है। मुझे भी अहं सूझ रहा था सो मैंने भी चाय के लिए पूछा। पता चला वे चाय नहीं पीते। चाय वहाँ नहीं होती। वहाँ के साहित्यकार सिगरेट और चाय के बजाय आकाशगंगा की स्निग्ध ज्योत्सना पीते हैं। मेरे पास वह थी नहीं, आवभगत का किस्सा ख़तम हो गया।

मेरा घर कैसे मिला पूछने पर उन्होंने बताया—उन्होंने उड़न तश्तरी पर बैठकर यह कामना की थी कि वे किसी हास्य-व्यंग्य-लेखक से मिलना चाहते हैं। बस उड़न तश्तरी यहाँ ले आयी। दरअसल इस वक्त मेरे अंदर का साहित्यकार वग़ैरह दब गया था और पत्रकार ज़्यादा तेज़ी से उभर रहा था। सोचा यह इन्टरव्यू ले लूँ तो अखबार के लिए इससे अच्छा मसाला कहाँ मिलेगा।

मैंने पहला सवाल किया—

"हे महाभाग ! आपके यहाँ साहित्य में कितने वाद हैं सो कृपाकर बताइये" क्योंकि यह मैं जानता था कि जिस साहित्य में जितने वाद होते हैं वह उतना ही महान् होता है।

उस दाढ़ीदार चीज़ ने अपना अनुवाद करके बताया—

"हे धरती पुत्र ! हमारे यहाँ दो तरह के साहित्यकार हैं। एक तो योगवादी और दूसरे उपयोगवादी। मैं उपयोगवादी समूह का साहित्यकार हूँ। वादों के हिसाब से अभी हमारा ग्रह पिछड़ा हुआ है फिर भी हमारे यहाँ 'अधिकवाद उगाओ' आन्दोलन चल रहा है।"

मैंने कहा—

"हे ग्रह साहित्यकार ! आप धन्य हैं। किन्तु आपने जो यह उपयोगवादी समूह का उल्लेख किया सो कृपा करके इसका मार्ग भी कहें जिससे कि हम धरती के साहित्यकार ज्ञान को प्राप्त करें और तदनुसार लाभ उठावें।"

अब की बार अपने वाहियात लबादे के अन्दर से जैसे वह चीज अपने कंधे झकझोर कर बोली—

"हे जीवात्मा सुन ! योगवादी साहित्यकारों मनीषियों से जो भिन्न हैं वे उपयोगवादी महर्षि साहित्यकार हैं। ऐसे सभी साहित्यकार जिनकी एक पंक्ति से दूसरी पंक्ति, एक शब्द से दूसरा शब्द, एक भाव से दूसरा भाव मिलकर या जुड़कर चलता है वे योगवादी साहित्यकार हैं। किन्तु जिन साहित्यकारों की प्रत्येक पंक्तिका अर्थ अलग, प्रत्येक शब्द का, अक्षर-अक्षर का भाव अलग हो, वे सभी उपयोगवादी साहित्यकार हैं। हमारे ग्रहमें साहित्य व्यक्ति नहीं लिखते, समूह साहित्य लिखता है। सारे योगवादी या उपयोगवादी लेखक एक जगह पर रख दिये जाते हैं और वे उसी तरह अपनी कृति तैयार करते हैं जैसे दीमक अपना टीला। वही उपयोगवादी समूह कहलाता है।"

देख रहा था कि यह दढ़ियल मेरी ही धरती के साहित्यकारों की चौंकाने वाली टेकनिक का इस्तेमाल मुझ पर ही कर रहा था लेकिन कर भी क्या सकता था। हारकर फिर पूछा—

"हे प्रभो। आपको हमारी भाषा कैसे आ गई ?"

उत्तर मिला—

"हे अल्प बुद्धि ! हमारे ग्रह में हर साहित्यकार कहलाने वाले को हर ग्रह की भाषा सीखनी पड़ती है। सब भाषाएँ सीख लेने के बाद ही उसे साहित्य लिखने का परमिट मिलता है। बिना इस लाइसेंस के साहित्य नहीं लिखा जा सकता। हर नत्थूखैरा साहित्यकार नहीं बन सकता। साहित्यकार बनने के पहले उसी तरह परीक्षा ली जाती है जिस प्रकार वकीलों या डाक्टरों की धरती पर होती है। पास, फेल के बाद उन्हें प्रथम श्रेणी, द्वितीय श्रेणी या तृतीय श्रेणी दे दी जाती है। इस श्रेणी-विभाजन के बाद हमारे यहाँ आलोचकों का काम नहीं रह गया है। हमारे यहाँ आलोचक अधिकतर अब परचून की दूकान करने लगे हैं।" मैंने सोचा कि इस धरती से भी आलोचक हटाने का यह अच्छा तरीका है। तब तक दढ़ियल ने

अपनी दाढ़ीपर हाथ फेरते हुए आगे सुनाया —

"हे मानव प्राणी ! इसके बाद हमारे यहाँ हर साहित्यकार को एक मशीन में छोड़ दिया जाता है जिसके अन्दर उस पर हर तरह के टीके, नश्तर और मुहर लगा दी जाती हैं। असली खोपड़ी हटाकर साहित्यकारों की खोपड़ी लगा दी जाती है जिसमें तरह-तरह की शैलियाँ और बहुत से प्लाट पहले से ही सजाये हुए रखे रहते हैं। मशीन में से सभी साहित्यकार एक-सी ही वेशभूषा और लगभग एक-सा ही रूप लेकर निकलते हैं। वे आपस में एक दूसरे को भी शक्ल से नहीं पहचान पाते। हम सब के पास नम्बरी टिकट होते हैं, उन्हीं से हम सबको जानते-बूझते हैं। नम्बर न हो तो हमारी सरकार भी हमें पहचान न पाये।"

उसने अपने गले में झूलता हुआ एक सोने का सा तमगा दिखाया।

अब मेरा साहित्यकार भी जागा। पूछ बैठा—

"हे महामानव। आपके यहाँ हास्यव्यंग्य कैसे लिखा जाता होगा?"

दढ़ियल बोला—

"हे जीवांश सुन। हमारे ग्रह के साहित्यकारों को एक ही भाव हर रूप में लिखना पड़ता है...जब तक वही भाव कविता में, वही भाव उपन्यास में, फिर वही भाव कहानी में, फिर वही नाटक में अदा करके न दिखाये तब तक उसकी कृति अपरिपक्व मानी जाती है।

हास्य और व्यंग्य लिखने के लिए हमारे यहाँ एक स्कूल है जहाँ हर साहित्यकार को मजाक रटने पड़ते हैं। वैसे साहित्यकार की खोपड़ी में थोड़े से मजाक भी रख दिये जाते हैं। एक-सी परिस्थिति में हमारे यहाँ का साहित्यकार एक सा ही मजाक करेगा। उसमें कभी भेद न होगा। इसीलिए हमारे ग्रह में हास्य व्यग्य बहुत लोकप्रिय है। साहित्यकारों को बहुत से मजाक प्रैक्टिस करने के लिए भी दे दिये जाते हैं।"

मैं बीच में ही बोल पड़ा—

"मियाँ-बीबी का मजाक···?"

दढ़ियल ने कहा—

"औरतों पर किया हुआ मज़ाक हमारे यहाँ निषिद्ध है। स्त्री साहित्य-की वस्तु हमारे यहाँ नहीं मानी जाती।"

मैं अब इस दढ़ियल साहित्यकार से प्रभावित हो रहा था। एकाएक नरवस होकर उससे उपयोगवादी कविता सुनाने की प्रार्थना कर बैठा। विद्रूप ढंग से मुस्कराकर उसने कविता जैसी चीज ही सुनायी होगी जिसकी ध्वनियाँ इस प्रकार की थीं—

कुँ-कुँ कुट-कुट कूँ
शं घपाद्रि यूँऽऽऽऽऽऽ
चुँ कुट कुट कुट ‥

यद्यपि बहुत-सी ध्वनियाँ तो मुझे इस प्रयोगवादी युग की पहचानी हुई-सी लग रही थीं किन्तु उसने जो अर्थ बताया वह मुझे अब याद नहीं रह गया। लपककर श्रद्धावश जो मैं पाँव छूने चला तो उड़नतश्तरी उड़नछू हो गयी।

दूसरे दिन जब मैंने लोगों से इसका जिक्र करना शुरू किया तो अखबार में छापने की कौन कहे, लोग मुझे पकड़कर डाक्टर के पास ले चले, जब तक मैं कुछ सफाई पेश करूँ तब तक एक सुई लगा भी दी गयी। घर जाकर 'स्क्रिप्ट' ले आया और डाक्टर साहब को सारा किस्सा सुनाया तब जाकर दूसरी और तीसरी सुई से जान छूटी। तब से यह जान ही गया हूँ कि गप उड़ाना कभी-कभी घातक भी सिद्ध हो सकता है।

चुनौती : एक जीवन दर्शन

शायद अपने नाम के ही फलस्वरूप हो कि श्री शिवेन्द्र प्रताप नारायन सिंह के व्यक्तित्व में जो विराटता और बेतुकापन एक साथ पनपा था, वह न सिर्फ उनके सभी मित्रों के लिए वरन् अनेक समाजशास्त्रियों के लिए भी एक पहेली बना हुआ है। बहुत दिन तक मैं स्वयं इसी खोज में रहा कि जिस को लोग इस प्रकार अगम मान रहे हैं उनका कोई राज़ मेरे हाथ लगे! कहते हैं कि 'जिन खोजा तिन पाइयाँ!' उसी साधना का कुछ फल मुझको मिला है—जिसे मैं सब के सामने रखकर स्वयं प्रतिपादित-महा पंडित कहलाने का लोभ संवरण नहीं कर सकता!

यह बात अब तक किसी को नहीं मालूम है कि शिवेन्द्र जी का जन्म एक चुनौती के फलस्वरूप हुआ था। किसी संकटकाल में उन के पिता ने यह घोषणा की थी कि वे कालांतर में ऐसे पुत्ररत्न को जन्म देंगे, जो उनके किसी संबंधी की दी हुई चुनौती का परिणाम था। उसके कुछ समय बाद ही शिवेन्द्र जी का जन्म हुआ। शिवेन्द्र जी की मनोग्रंथियों का जैसा उद्भव और विकास हुआ था, उससे पता लगता था कि शायद 'नार्मल कोर्स' में वे इस धरती पर अवतार लेने के लिये न आते, यदि उन्हें मुक्तिधाम में किसी ने धरती पर उतरने का 'चैलेंज' न दिया होता! कई कारणों के समवेत गान के कारण ही शायद उन्हें पृथ्वी पर अवतार लेना पड़ा था।

शिवेन्द्र जी की दो चीज़ों में अटूट आस्था थी—एक तो कुछ न करने में, और दूसरे पड़े-पड़े गप लड़ाने में ! वस्तुतः इन्हीं दोनों तत्वों से उनके जिस व्यक्तित्व का निर्माण हुआ था उसमें सहज ही विराटता और बेतुकापन समाया हुआ था ! वे अपने अंतरतम से इन दोनों बातों पर विश्वास करते थे किन्तु वे यह नहीं चाहते थे कि उनके इन विश्वासों को दूसरा दोहराए। वे अपने गुणों की अधिक चर्चा सुनना पसन्द नहीं करते थे। कुछ न करने वाला तत्व उनको कभी त्यागना भी पड़ता था। उसका मात्र एक ही कारण हुआ करता था—यानी कोई उन्हें किसी बात के लिए चुनौती दे देता था !

बचपन से ही शिवेन्द्र जी विराटता और बेतुकेपन के तत्वों को ही अधिक सहेज कर मानव मन के नए धरातलों को उभारने की चेष्टा करते थे। पढ़ने लिखने में उनका मन नहीं लगता था। बाप-माँ के कहने का लिहाज़ भी उन्होंने कभी नहीं किया। एक बार जब वे अपनी विराटता की व्याख्या कर रहे थे तभी किसी साथी ने उनके अपढ़ होने का मज़ाक़ उड़ाया। उसी दिन उन्होंने उसकी चुनौती स्वीकार की और ऐसी पढ़ाई पढ़ी कि फिर एम० ए० पास करके ही दम लिया। पढ़ाई के दिनों में भी जब उनके अन्दर कुछ-न-करने का विराट तत्व जगता तो उन्हें कोई माई का लाल ललकार बैठता। ललकार उनसे सही नहीं जाती थी और इसके फलस्वरूप वे आठ-आठ मील की दौड़ लगा डालते, छत्तीस-छत्तीस घण्टे पानी में तैरते रह जाते और परीक्षा में तीन घण्टे के भीतर पन्द्रह कापियाँ लिख डालते !

पड़े-पड़े गप लड़ाने की प्रतिभा जब उदय होती थी तब वे लेटे-लेटे सारे संसार के महानतम दार्शनिकों, लेखकों, कवियों, विचारकों और नेताओं को पल्ले सिरे का मूर्ख मान लेते थे और उन्हें मित्रों से मनवाया करते थे। कभी-कभी किन्हीं विचारकों से जब वे प्रभावित होने लगते तो एक ही पल में उसे वे ललकार मान लेते और तब वे अपने काटपेंची दिमाग़ से उसके सारे तर्क काट कर फेंक देते। गप लड़ाते-लड़ाते ही उनके साथ जो

दुर्घटना घटी थी, उसी के फलस्वरूप उनको नेता बनने की चुनौती स्वीकार करनी पड़ी थी। इस चुनौती के मिलते ही शिवेन्द्र जी की कुछ न करने की बान पर फिर मुसीबत टूट पड़ी। उन्हें नेतागीरी करनी पड़ी। दो साल बरबाद करके अपना एक-दल तैयार करना पड़ा। आज तक वे उसके अधिपति बने हुये हैं। न दल टूटने का नाम लेता है और न शिवेन्द्र जी नेतागीरी से ही अलग हो पाते हैं।

शिवेन्द्र जी के संबंधी पुरातत्ववेत्ता इस बात को जानते हैं कि किस तरह एक कवि-सम्मेलन का सभापतित्व करते समय उनको एक कवि ने ललकार दिया था। उसी के फलस्वरूप उन्होंने कविता लिख कर दुबारा कवि-सम्मेलन का सभापतित्व किया और उस कवि को नीचा दिखाया!

यहीं तक नहीं। उनकी इस कमज़ोरी का एहसास जिन लोगों को हो गया था उन्होंने उनकी ज़िन्दगी के साथ एक बड़ा गहरा मज़ाक किया। आज तक शिवेन्द्र जी इस बात को समझ नहीं पाये और न उस पर वे विश्वास करने को ही तैयार हैं। लोगों ने एक बहस के दौरान में इस बात को बार-बार दोहराया कि बदसूरत लड़की से न तो प्रेम किया जा सकता है और न उसके साथ विवाह करके सुखपूर्वक रहा जा सकता है! जैसा कह चुका हूँ, शिवेन्द्र जी वही कार्य करने में अपनी बान छोड़ते आते थे, जो कोई और न कर पाये! जैसे ही उन्होंने छाती ठोंक कर इसका बीड़ा उठाया वैसे ही अंधा क्या चाहे दो आँखें मुहाविरे के प्रति प्रेम रखने वाले बंधुओं ने उसी कुरूप और बदमिजाज़ लड़की की तरफ़ इशारा किया जिससे वे उनका विवाह करना चाह रहे थे। शिवेन्द्र जी चूँकि चुनौती स्वीकार कर चुके थे, इसलिये उन्होंने बड़ी हिम्मत के साथ उसी चिड़चिड़ी और बदसूरत लड़की से न सिर्फ़ प्रेम ही किया बल्कि विवाह करके यह भी दिखलाने की कोशिश की कि हर लड़की से सफलता-पूर्वक प्रेम किया जा सकता है। उनका अब यह कहना है कि आदमी चाहे तो चिड़चिड़ी औरत के साथ भी शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व बनाये रख सकता है।

इन घटनाओं को सभी जानते हैं—किन्तु अभी तक इस पृष्ठभूमि में किसी ने देखने का कष्ट नहीं किया था। इसलिए मुझे यह करने की जरूरत पड़ी। अभी-अभी इधर हाल ही में जो अत्यन्त विचित्र घटना उनके साथ घटी उससे उनका यह जीवन-दर्शन और भी स्पष्ट हो गया है।

हुआ ऐसा कि इधर अपनी नेतागीरी के चक्कर में उन्हें बम्बई जाना पड़ा। लौटते वक्त गाड़ी में उनसे एक पाकिटमार से पहचान हो गई। समय पाकर नेता और पाकिटमार में मित्रता बढ़ जाना अचरज की बात नहीं है। चूँकि किसी भी फ़न में अपने मुक़ाबिले दूसरे की सत्ता ग्रहण करने के लिए शिवेन्द्र जी तैयार नहीं रहते थे इसलिए थोड़ी ही देर की बात-चीत के बाद वे इस नतीजे पर पहुँचे—

"तो आप यदि अपने को बड़ा भारी पाकिटमार बताते हैं तो लीजिए यह मेरा मनीबैग है; इसे आप उड़ा दीजिए तो मैं आपको जानूँ! सौ रुपए से कुछ ज़्यादा हैं। सब आपका हो जायगा। बम्बई से लखनऊ तक का मौक़ा आप को देता हूँ।"

यक़ीन मानिए कि पूरे इत्मीनान के साथ शिवेन्द्र जी लखनऊ तक गए। पाकिटमार उनका कुछ भी नहीं कर पाया। लखनऊ स्टेशन पर उतर कर उसने शिवेन्द्र जी के सामने हाथ जोड़ दिये। उसने कान पकड़ा और पूछा कि आपने आख़िर मनीबैग कहाँ छिपा कर रक्खा था? शिवेन्द्र जी ने तब बहुत मुस्कराते हुए उसकी ही जेब से अपना मनीबैग हाथ बढ़ा कर निकाल लिया। उसका मुँह अचरज से खुला रह गया। शिवेन्द्र जी ने बताया कि किस तरह उसी के पाकिट में अपना पर्स ये सुरक्षित करके उस पर बराबर निगाह रक्खे रहे। पाकिटमार ने सिर्फ़ उन्हीं की तलाशी ली थी, अपनी नहीं। लेकिन चुनौती अभी पूरी नहीं हुई थी। शिवेन्द्र जी को अपनी उस्तादी तो दिखानी बाक़ी ही थी। अपना पर्स उसे फिर देकर उन्होंने कहा—

"अब आप फिर बम्बई तक चलिये और मैं आपकी जेब से इसे निकाल कर दिखाऊँगा।"

गिरहकट मनीबेग रख कर चला। राह में ज्योंही इन्होंने जेब पर हाथ लगाया त्योंही उसने वह शोरगुल मचाया कि पुलिस ने इनको अपने कब्जे में कर लिया। मनीबेग से हाथ धोया और बीस दिन की सज़ा काटी वह अलग से !

जीवन में पहली बार चुनौती में कष्ट भोगना पड़ा। फिर भी नेता को जेल किसी बहाने भी जाना पड़ा तो वह हिचकता नहीं, इसी कारण शिवेंद्र जी जेल का सार्टीफिकेट लेकर मगन मन, पर्स खोकर चले आये।

अब भी वे कुछ न करने और पड़े-पड़े गप लगाने में ही विश्वास करते हैं, किंतु कभी-कभी जब उनका जीवन-दर्शन, अर्थात् किसी की चुनौती, उन्हें मजबूर कर देती है तब वे अपनी शैय्या त्याग देते हैं। यही एक मात्र उपाय है कि वे शैय्या त्यागें।

मज़ाक का नतीजा

अग्रवाल जी न सिर्फ़ अपने को मेरा दोस्त ही कहते हैं बल्कि एक अच्छा ख़ासा मज़ाकिया भी लगाते हैं। नतीजा यह होता है कि अक्सर जिस तरह से पुराने ज़माने के लोग साँड़ों की लड़ाई दूर से देखने का आनन्द उठाया करते थे उसी तरह से अक्सर अग्रवाल जी से मुझको भिड़ा कर जनता अत्यन्त पुलकित होकर यह देखा करती कि कब किसने क्या चोट की और वह कितनी गहरी पैठी। गहरी पैठने का अन्दाज़ इससे लगाया जाता कि विपक्षी थोड़ी देर के लिये सुन्न हो जाय, उसकी आँखों के समाने अँधेरा छा जाय. जनता की हँसी उसे सैकड़ों एटम बमों के फटने जैसी शोर करती हुई सुनाई पड़े, हवास गुम हो जाय और यह समझ में आये कि इस ज़बानी पटकनी का जवाब सिर्फ़ शारीरिक पटकनी से ही दिया जा सकता है। हर चोट पर 'जन मानस' तो अपने पेट में बल डाल-डाल कर 'विना हर्रा फिटकरी लगाये हुये' अपना स्वास्थ्य सुधारने की कोशिश करता और इधर अग्रवाल जी कभी मुझे, और कभी मुझे अग्रवाल जी को खुश करने के लिये, मिन्नत करके बड़े आग्रह के साथ चाय पीने के लिये ले जाना पड़ता। जब-जब परिचय के दायरे में आने वाली जनता अपने चिरपरिचित हथकण्डों से हम दोनों के वाक्य-तरकसों को टटोल कर उकसाती तो हम हमेशा समझ जाते कि क्या होने वाला है।

लेकिन जिस तरह से प्राचीन काल के योद्धा, सब परिणाम जानते हुए भी सिर्फ़ मर्दानगी की लाज रखने के लिये द्वन्द्व के लिये जुट ही पड़ते थे उसी तरह से हम दोनों भी अपने तरकसों को एक बार ख़ाली करने और अभ्यास करने के नाम पर, सब कुछ समझते हुये भी, मनीबेग खोलकर उसमें दो रुपये का एक नोट अलग सहेज कर (ताकि वक्त ज़रूरत काम आ सके) मुस्कराते हुए 'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय' एक दूसरे से भिड़ जाते थे !

उस दिन भी हम लोगों ने जनता के कहने पर एक ऐसा ही 'शो' दे दिया था । लेकिन जिस तरह अखाड़े में दो पहलवानों की कुश्ती के 'शो' में एक ही पहलवान जीतता है उसी तरह से उस दिन बदक़िस्मती से मैं जीत उठा ! जनता जनार्दन ने भी इस वाग्युद्ध से प्रसन्न होकर स्वयं ही हम दोनों पहलवानों को चाय पिलाई । सब प्रसन्न थे, मैं ज़रा ज़्यादा प्रसन्न था और अग्रवाल जी ज़रा कम प्रसन्न थे । लेकिन उस दिन का यह 'शो' और अग्रवाल जी को अपनी यह हार ज़रा खटक गई । शायद इसीलिये कि जीतने के बावजूद भी मेरा मनीबेग क्यों चारों ख़ाने चित होने से बच गया और······? और फिर जो मुझ पर बीती वह मैं क्या कहूँ ?

उसी दोपहर को एक सज्जन के साथ अग्रवाल जी को मैंने अपने दफ़्तर के बरामदे में बातें करते देखा । निहायत मुचरस क़िस्म का आदमी, चेहरे पर इतनी शिकनें कि जैसे बचपन से अब तक उसके मुँह पर न तो कभी 'आइरन' हुआ और न उसने धोबी का घर कभी देखा । पतलून पैजामा हो गई थी । उसे पहचानने का एक ही ज़रिया था; वह यह कि वह नीचे मुड़ी हुई थी । एक गरम चारख़ाने का कोट जिसके कालर एक रंगीन गुलूबन्द से ढँके हुए थे । आँखें गढ़े में और तिस पर से 'माइनस' वाले मोटे-मोटे लेन्स का चश्मा । इन सब पर तुरुप लगाने वाला था एक दम नया ताज़ा ख़रीदा हुआ 'फ्लेक्स' का जूता जो शायद आज ही कल में दूकान से निकला था । हाथ में एक चमड़े का बेग जिसे देख कर मुझे इंश्योरेंस एजेण्ट का भी भय होता था । अग्रवाल जी जिस तरह से

उससे मुस्करा-मुस्करा कर बातें कर रहे थे वह किसी भी बाअक्ल आदमी के लिये चिन्ताजनक हो सकता था। मेरी परेशीनी का थोड़ा कारण यह भी था कि वे दोनों बातें करते-करते बीच-बीच में मेरी तरफ़ देख भी लिया करते थे। मामूली मनोविज्ञान के हिसाब से मैं अपने को उनकी बात-चीत में शामिल समझता था, इसीलिये कुछ ज़्यादा परेशान था। बहरहाल मैं हट कर अपने कमरे में चला गया। आँख ओट पहाड़ ओट!

अपनी मेज़ पर बैठकर काम करते दस मिनट ही बीते होंगे कि वही गुलूबन्द पड़ा, बिना आइरन किया हुआ शिकनदार मुचरस चेहरा मेरे समाने खड़ा दिखाई पड़ा। शिष्टतावश मैंने कहा, "आइये बैठिये! कहिये, क्या काम है?"

चेहरे ने जवाब दिया—

"जी बात यह है कि मैं यहाँ डी० ए० वी० स्कूल में हिन्दी का अध्यापक हूँ!"

"अच्छा! बड़ी खुशी हुई आपसे मिलकर! लेकिन खेद है मेरे पास ऐसा कोई लड़का नहीं जिसका ट्यूशन आपको दे सकूँ।' मैं समझ गया कि ट्यूशन के लिये ही आये होंगे जैसे कई लोग आजकल चक्कर काट रहे हैं।

"जी नहीं, बात यह है कि आगामी इक्कीस तारीख़ को हमारे विद्यार्थी-गण स्कूल में एक समारोह कर रहे हैं।"

"देखिये, मैं तो कहीं समारोह-वमारोह में आता-जातान हीं। मुझे छुट्टी भी नहीं रहती! आप तो जानते ही हैं, यहाँ काम ही ऐसा है।"

"जी हाँ, वह तो है किन्तु हमारे प्रधानाचार्य ने स्कूल में एक 'कवि-सम्मेलन' कराने का ज़िम्मा मेरे ऊपर ही छोड़ रक्खा है!"

'कवि सम्मेलन' का नाम सुनते ही मैं चिहुँका। बात एकदम साफ़ हो गई थी। अग्रवाल जी की हरकत का पूरा अन्दाज़ मुझे मिल गया था। मैं मन-ही-मन उनके इस कारनामें पर एक क्षण मुस्कराया और फिर मैंने गम्भीरतापूर्वक जवाब दिया :

"अच्छा-अच्छा । कवि-सम्मेलन ? यह तो अच्छी चीज़ होत अग्रवाल जी को ले जाइये ! जिस तरह के तेज़ तर्रार आदमी हैं कविता भी वैसी ही लिखते हैं ! अपने पोंगेश जी हैं उनको ले जाइये । वे तो जहाँ जाते हैं मैंने सुना है वह कवि सम्मेलन बहुत जमता है !"

इस बार कुछ ज़्यादा खीस-निपोर कर वह चेहरा बोला—

"जी हाँ ! वे लोग तो जा ही रहे हैं लेकिन हमारे विद्यार्थियों का अनुरोध है कि आप भी अवश्य चलें ! हमारे यहाँ एक बीर-रस के कवि की बड़ी कमी है ।"

मेरे सोचे हुए प्लान के अनुसार ही वे बोल रहे थे । मैंने कहा—

"लेकिन भाई ! मैं तो कवि नहीं हूँ ! मैं तो कभी कविता लिखता उखता नहीं ! हाँ दो एक बार कवि सम्मेलन में कविता सुनने गया अवश्य हूँ ।"

अपने चेहरे की शिकनों को और भी बलदार बनाता हुआ और गुलूबन्द को थोड़ा ढीला करते हुए वह अध्यापकनुमा जीव फिर बोला :

"जी हाँ, जी हाँ ! सो तो आपका यह कहना उचित ही लगता है । आप आजकल के कवियों की तरह नहीं हैं जो एक रचना करेंगे तो अपने आपको विश्व-कवि कहने लगेंगे । आपकी 'झाँसी की रानी' वाली रचना हमारे विद्यार्थियों को मुँहज़ुबानी रटी है ।"

"मगर यह कविता तो•••"

"हाँ, हाँ बड़ी सरल और सुन्दर भाषा में आपने लिखी है । आपके चलने से हमारे विद्यार्थीगण बड़ा लाभ पावेंगे । आप अवश्य चलने का कष्ट कीजिये । अग्रवाल जी ने भी कहा है कि जब तक 'ब्रह्मा' जी न चलेंगे तब तक हम भी न जावेंगे । आपके मित्र हैं न ? सो बिना मित्र के कोई अकेले जाए भी तो कैसे ।" स्वयं-प्रतिपादित इस सामाजिक सिद्धांत को जैसे एक बड़ा दार्शनिक सत्य बनाकर बोलते हुए वे अपने 'माइनस लेंस' वाले चश्मे की ओट से मुस्कराये ।

चपरासी ने मेज़ पर नया फ़ाइलों का गट्ठर लाकर डाल दिया । उनको खोलता हुआ मैं फिर थोड़ी आज़िज़ी के साथ बोला—

"जी हाँ, यह तो ठीक है, लेकिन अग्रवाल जी का और मेरा साथ भी क्या ?' वे कवि हैं उनको कविता पढ़ने के लिये ले जाइये । मैं तो श्रोता हूँ ! हो सका तो आ जाऊँगा !"

मेरी मेज़ पर झुक कर हिन्दी के 'माट्साहब' बोले—

"जी हाँ यह तो आप ठीक कहते हैं किन्तु बीर रस की कविता कौन सुनायेगा ? विद्यार्थियों को दृष्टि में रखते हुए एक बार चाहे थोड़ी ही देर को...."

"अजी मैंने आपको बता दिया कि मैं कवि नहीं हूँ। कविता से मेरा वास्ता नहीं है। मैं कहीं आता-जाता नहीं। इस वक्त अब मुझे काम करना है।" इतना कह कर मैं अपने काम में ज़बर्दस्ती मन लगाने का और उसे 'गम्भीर' रूप से मनन करने का उपक्रम करने लगा।

कुर्सी से उठते हुए उन्होंने कहा—

"अच्छा जी ! मैं फिर आपकी सेवा में उपस्थित होऊँगा । विद्यार्थियों का ही प्रश्न है........"

आगे मैंने उनकी बात पर ध्यान नहीं दिया। शायद अगले दो मिनटों तक वे बराबर बोलते रहे। जब वे हट गये तब मैंने आँख उठाई । बाहर बरामदे में फिर अग्रवाल जी और वे महोदय उसी तरह एकरस होकर वार्तालाप में जुटे दिखाई पड़े। उँगलियों से अग्रवाल जी इशारा करके जैसे राह बता रहे थे।

दिन भर काम करने के बाद मैं थका-माँदा अपने घर पहुँचा ।

कपड़े उतारते उतारते मेरी श्रीमती ने बताया कि एक साहब बैठक में बहुत देर से आपका इन्तज़ार कर रहे हैं। मेरे एक दोस्त कई दिन से मुझसे मिलने आने को कह रहे थे। निश्चय ही आज वे ही बेचारे आये होंगे। जल्दी-जल्दी मुँह-हाथ धोकर चाय वहीं भेज देने की व्यवस्था करके बैठक में पहुँचा। पाँव धरते ही मुझे जैसे साँप सूँघ गया । यह तो वही बिना आइरन किया शिकनदार हिन्दी के माट्साहब का चेहरा था। मुझको देखते ही बड़े तपाक से उठते हुए बोले—

"आइये बैठिये ! बड़ी देर में आप दफ़्तर से आते हैं ! मैं तो समझा था आप पाँच बजे तक वापस आ जाते होंगे । घर भी आपने बड़ी टेढ़ी जगह में लिया है । अग्रवाल जी ने न बताया होता तो यहाँ तक पहुँचना बड़ा मुश्किल होता ।"

मैं समझ गया कि अग्रवाल जी मेरे पीछे हाथ धोकर पड़े हैं । ख़ुद बातों में न जीत पाने की खीझ मिटाने के लिये उन्होंने मेरे ऊपर इनको छोड़ दिया है ! फिर भी क्रोध पर विजय प्राप्त करना संतों का लक्षण बताया गया है, इसीलिये मैंने अत्यन्त नम्र किन्तु उलाहनाभरे स्वरों में कहना शुरू किया—

"आप नाहक ही यहाँ तक आये । मैंने तो पहले ही कह दिया कि मैं कविता उविता तो करता नहीं । आपको कवि सम्मेलन के लिये कवि चाहिये तो आप कृपया चंचुजी के पास चले जाइये । उनके पास एक पूरा दल का दल ही रहता है । ख़ुद चंचुजी ही भूखे शेर की तरह तीन घण्टे जनता को चबा जाने के लिये समर्थ हैं । फिर उनके साथी कंजजी, मराल जी, कोषजी, घोषजी इनको ले जाइये । एक मोटर भर कवि तो आपको आसानी से मिल जायेंगे । और कंजजी तो यहाँ के बड़े भारी सजनीवादी गीतकार कवि हैं । मराल जी अब भी ब्रजभाषा के अखाड़िये पहलवान हैं । कोषजी अब कवि सम्मेलनों में हास्य रस की बढ़ती हुई माँग देखकर हास्य रस की भी कवितायें करने लगे हैं । घोषजी नई कविता जैसी चीज़ भी लिख लेते हैं । एक साथ इतनी बात आपको और दूसरी किस जगह पर मिल सकती है । आप मेरे घर पर आये हैं और इस कवि सम्मेलन को सीरियसली करना चाहते हैं, इसीलिये आपको मैंने यह सारी बातें जो यहाँ के एक श्रोता होने के नाते जानता था, आपको बता दीं ।"

अबकी बार मैंने जानबूझ कर ख़ूब गहरा और लम्बा भाषण दिया था क्योंकि दूसरों को उखाड़ने के लिये यह टेकनीक मैं नेताओं से सीख चुका था । लेकिन वे इस सबसे समझदार जनता की तरह तनिक भी प्रभावित न होकर सीधे बोले—

"बात यह है ब्रह्मा जी कि मैं आपसे क्या कहूँ ? मैं भी हिन्दी का प्रेमी जीव हूँ। पिछले 'बर्स' मैंने अपने विद्यालय में जो कवि सम्मेलन करवाया था उसमें अच्छे-अच्छे पढ़ने वालों को बुला कर ले गया था। कवि-सम्मेलन छः सात घण्टे बड़े मज़े से चलता रहा, लेकिन हमारे प्रधानाचार्य-जी दूसरे दिन मेरे ऊपर बहुत बिगड़े। कहने लगे कि 'पण्डितजी ! आप आख़िर विद्यार्थियों को इस प्रकार 'सजनी तुम्हारे होठों का मधु भार' सुन-वाने का हम लोगों के सामने कैसे दुस्साहस कर सके ? इससे विद्यार्थियों का आचरण ख़राब होता है और उनके विचार इस प्रकार की कविताओं से सुद्ध नहीं रह पाते। प्रधानाचार्य जी ने कहा कि 'पण्डित जी आप इस बार यदि कुछ बीर-रस आदि की कविता का प्रबन्ध न कर सकें तो विद्यार्थियों के लिये कवि-सम्मेलन नहीं किया जायगा और आपको निकाल कर कोई ऐसे हिन्दी के पण्डित जी रक्खे जायेंगे जो अपने विद्या-लय में ऐसे अच्छे कवियों को बुला कर ला सकें जिनसे विद्यार्थियों का आचरण अच्छा हो और वे नर-रत्न बन सकें। आपको पता नहीं होगा मैं अभी 'टेम्पोरेरी' काम करता हूँ। चार-साल से 'टेम्पोरेरी' ही चला जा रहा हूँ। कवि सम्मेलन में बीर रस की कविता विद्यार्थियों को न सुनवा पाया तो हमारी नौकरी······" कहते कहते वे बहुत गम्भीर हो उठे।

"ठीक है तो आप वीर-रस की कविता सुनाने वालों को भी बुला लीजिये ! लेकिन मैं तो कविता लिखता ही नहीं ! वीर-रस या शान्त-रस की तो बात ही अलग है।"

"देखिये ब्रह्मा जी आप से········"

"यदि आपको मुझ पर यक़ीन न आ रहा हो तो कहिये मैं गंगाजली उठाने को तैयार हूँ कि मैं कभी कविता नहीं लिखता था और आज भी नहीं लिखता। क्या बताऊँ ? मेरी ही बदक़िस्मती है ! आपके साथ इस तरह का मज़ाक अग्रवाल जी ने किया यह उचित नहीं था।"

चाय आ गई थी। मैंने उनको चाय पिलाई फिर कठिनाई से कई

बहाने बना कर उनको विदा किया। दरवाज़े से निकलते-निकलते वे फिर कहते रहे—

"अच्छा जी! यदि हो सके तो थोड़ी देर के लिये ही......"

मैंने नमस्कार करके दरवाज़ा बन्द कर लिया।

दूसरे दिन जब मैं दफ़्तर पहुँचा तो वे एक स्थानीय एम० एल० ए० का सिफ़ारिशी पत्र मेरे अफ़सर के नाम लेकर पहुँचे हुए थे। साहब ने उन्हें मेरे पास मय ख़त के भेज दिया था। वे ख़त सहित मेरी मेज़ के सामने बैठे हुए थे। मेरे साहब का रिमार्क था कि मैं देख लूँ और उचित कार्यवाही कर दूँ। अब मेरे ताव आने की बारी थी। अग्रवाल जी तब तक नहीं आये थे। छूटते ही मैंने कहा—

"साहब आप अजीब ख़रदिमाग़ आदमी हैं। जब मैंने कह दिया कि मैं कविता लिखता ही नहीं तो क्या एम०एल०ए० की सिफ़ारिशी चिट्ठी पर मैं परमिट की तरह कविता भी लिखने लग जाऊँगा? अपनी अक़्ल के सामने आदमी दूसरे का ख़्याल ही नहीं करता! तबियत में आता है कि बस..." कहते कहते मैं ख़ुद ही रुक गया। दफ़्तर का मामला था। वह फिर बोले—

"अच्छा जी! आप न जायँगे तो कोई न जायगा!...चिट्ठी में देखिये मिसरा जी ने ख़ास तौर से आपका नाम लिखा है। देख लीजिये!" उन्होंने फिर उस सिफ़ारिशी चिट्ठी की तरफ संकेत किया तो मैं एकदम भुन उठा—

"अब आपकी ख़ैरियत इसी में है कि आप चुपचाप यहाँ से चल दीजिये वरना आपका थैला-वैला सब छिनवा कर फिकवा दूँगा। चलिये उठिये! और ये रही आपकी चिट्ठी!" मोड़ माड़ कर मैंने वह चिट्ठी उनकी तरफ फेंक दी। वे उठने में पहले कुछ आना-कानी दिखा रहे थे लेकिन मेरे वीर-रस में सने ओजस्वी स्वरों को सुनकर वे उसे टालने का साहस न कर सके!

उठे और बहुत निरीह दृष्टि से सिफ़ारिशी पत्र को देखते हुए सीढ़ियों से उतर कर बाहर चले गये।

उनकी इस याचना-भरी करुणा-सिंचित चाल को देखकर मुझे अपने ही ऊपर अफ़सोस होने लगा कि मैं कविता क्यों नहीं लिखता ? वे चले गये मगर मेरे मन में इस बात का संशय बना ही रहा कि मैं उन्हें विश्वास दिला भी सका कि मैं कविता नहीं लिखता। तब से सोच रहा हूँ कि अब कविता लिखकर उनके यहाँ सम्मेलन में ज़रूर जाकर पढ़ूँगा। लेकिन वीर-रस की कविता लिखूँ भी तो कैसे जब तक अग्रवाल जी से इस मज़ाक का जवाब न तलब कर लूँ ?

●

भूगोल-शास्त्री मुनि कालिदास

अपना 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' जो भारतवर्ष नामक स्थान है, वह सदा से विद्वानों की जननी रहा है। अपने यहाँ कहा भी गया है कि

'विद्वाने जम्बूद्वीपे रेवा खण्डे···!

यह जो संसार-रूपी अपार भवसागर है, उससे तरने के लिए भारत के ऋषियों ने विद्या-रूपी नौका का आधार माँगा है। इसी कारण से अपने जो विद्वान् या ज्ञानी होते थे, वे सर्वप्रथम इसी नौका-रूपी विद्या को प्राप्त करने को समुद्यत होते थे।

सत्य ही है कि अपने इस देश भारतवर्ष में कौन-सी ऐसी विद्या है जो नहीं थी! आज सारे विश्व में अणुबम, उद्जनबम और सूर्य-किरण की चर्चा होती है किन्तु यही भूमि थी जहाँ भारतीय योद्धाओं के अग्निवाण कैसे तुमुल रोर के साथ प्रलयंकारी वातावरण समुपस्थित कर देते थे! वायुयान और सुदूर श्रवणयंत्र अर्थात् टेलीफ़ोन आदि को कहा जाता है कि फिरंगी यहाँ लाये लेकिन वास्तव में उन्होंने यहाँ के विज्ञान को मिटा दिया। अपने यहाँ वेदों में यह सब लिखा हुआ है कि वेदों को हर कर कौन पातालपुरी ले जाएगा और तब कैसे-कैसे विकराल युद्ध मचेंगे! उसमें इस विश्रुत हाइड्रोजनबम और पातालपुरी नाम अमरीका आदि का

उल्लेख आया है। किन्तु अब इस नास्तिकता और साम्यवाद के युग में भला कौन वेदों को पढ़ता सुनता है ? नहीं तो आप ही बताएँ कि आज तक पुष्पक विमान के टक्कर का कोई वायुयान बन पाया कि जो मौखिक आदेशों पर चलता-फिरता हो ? कहीं ऐसी रेडियो मशीन बन पायी, जिसे विना विजली या बैटरी के चलाया जा सके ? अपने यहाँ इस तरह का यंत्र तब से है जब संजय धृतराष्ट्र को घर पर महाभारत के युद्ध का आँखों देखा हाल सुनाते रहते थे।

आज कहने वाले कहते हैं कि हमारे प्राचीन भारत में भूगोल-शास्त्र पर कोई पुस्तक नहीं लिखी गयी। मैं पूछता हूँ कि भला यह कैसे संभव हो सकता है ? ऐसी उलटबाँसी कहने में कोई भी जिज्ञासु एक बार हिचकेगा। बात यह है कि जब यहाँ सब कुछ उपलब्ध हो जाता है तो भला भूगोल विद्या ही कैसे इस प्रकार रह जाती ? दृष्टि-दृष्टि का भेद होता है ! अपने यहाँ के भारतीय संतों ने कहा है कि

'रे मन, जिन खोजा तिन पाइयाँ'

विचारने से ज्ञात होगा कि अपने ऋषियों को जब सब कुछ 'हस्तामलकवत्' था, तो फिर इस विद्या के विषय में कहीं-न-कहीं किसी रूप में अवश्य प्रवचन किया गया होगा। कुछ जानकारी प्राप्त होने पर ही मैं आपके सम्मुख भूगोल के इस ग्रंथ का उल्लेख करने जा रहा हूँ। इस पुस्तक का नाम है 'मेघदूत' और इसके रचयिता हैं मुनि कालिदास। इसका सम्पूर्ण विवेचन मैं आगे रखूँगा।

अपने यहाँ भूगोल तीन प्रकार के माने गये हैं—प्रथमे 'कगोल', द्वितीये 'खगोल' और तृतीये 'गगोल' ! इन तीनों को ही सम्मिलित करके 'चराचर गोल' हुआ करता था। कगोल तो क अर्थात् जल का गोल नाम विवरण था। खगोल उसी प्रकार ख अर्थात् आकाश का गोल नाम विवरण हुआ करता था। गगोल नामक ग्रंथ तो अब लुप्त हो गया है। खोजज्ञ बताते हैं कि वह ग्रंथ भारत से जर्मनी चला गया, वहाँ से किसी विचारक ने उसे रूस मँगवा लिया। उस विचारक ने इस ग्रंथ को आत्म-

सात् कर लिया और इतना प्रभावित हुआ कि उसने अपने पुत्र का नामकरण ही इस विद्याग्रंथ पर कर दिया जो गोगोल कहलाया ! इस प्रकार लुप्त होने की आशंका को भविष्यद्रष्टा मुनि कालिदास ने समझ कर इस [illegible] कठिन विद्या को जनानुकूल और कंठाग्र कराने के हेतु आयुर्वेद के ग्रंथों की भाँति छन्दबद्ध काव्य में रच कर जो तैयार किया वह 'मेघदूत' कहलाया !

किसी विद्या या ज्ञान को उपदेश रूप में बताने के तीन मार्ग अपने यहाँ के आचार्यों ने घोषित किये हैं—एक तो प्रभु सम्मित, अर्थात् वह जो आज्ञा के रूप में आता है और जिसे आज्ञाकारी बलात् मानता है, भले ही उसका अंतर्मन इससे विद्रोह करता रहे। दूसरा मार्ग है मित्र सम्मित, जहाँ एक मित्र की भाँति दूसरे मित्र को समझाने की क्रिया संपन्न होती है। किन्तु इसमें मित्र चाहे माने या न माने दोनों प्रकार की उसे स्वतंत्रता रहती है। तीसरा मार्ग है कांता सम्मित, अर्थात् जिस प्रकार त्रिया नाम स्त्री पुरुष को अत्यंत मृदुलता से उसकी बाँह गह कर सही पथ पर चलने को विवश कर देती है, उसी प्रकार भार्या रूपी काव्यमर्मज्ञ कांता सम्मितानुसार अपने पाठक रूपी पति को इस प्रकार समझाता है कि वह चटपट उपदेश ग्रहण कर लेता है। हमारे मुनि कालिदास ने इसी प्रकार से विश्रुत कांता सम्मितानुसार जनहिताय भूगोल ज्ञान दिया था किंतु जनता कवित्व-सौंदर्य में ही उलझी रह गयी और सच्ची विद्या नहीं खोज पायी।

'मेघदूत' एक उच्चकोटि का भूगोल ग्रंथ है। कुबेर के दरबार से हटाये जाने पर एक यक्ष अलकापुरी त्याग कर अपनी नवविवाहिता का वियोग सह कर रामगिरि की शिलाओं में जाता है, जहाँ वह आषाढ़ के बादलों को देख कर उनसे प्रार्थना करता है कि वे उसकी प्रियतमा तक संदेश ले जाएँ और इस प्रकार यक्ष की विरह-विगलित अवस्था देख कर कुबेर उसे क्षमा कर देते हैं। संक्षेप में 'मेघदूत' की यही कथा है। लेकिन प्रश्न यह उठता है कि इतनी-सी कथा कहने के लिए ही कालिदास ने इतने पन्ने क्यों रँगे होंगे ? स्पष्ट ही उन्हें कोई दूसरी ही बात इस माध्यम

से कहनी रही होगी !

अब आप 'मेघदूत' के ये वर्णन मेरी आँखों से देखें ! 'मेघदूत' की कथा का सूत्रपात ही तब से हुआ है जब भारतभूमि में 'मानसूनी' हवाएँ चलने लगती हैं और क्षितिज के कोने-कोने से बादल उठने लगते हैं। भूगोल में जलवायु का कितना महत्त्व है, यह कालिदास को भली भाँति ज्ञात था। यह वर्षा वस्तुतः 'उष्णतापीय वर्षा' थी जिसे 'कन्वेक्शनल रेन' कहते हैं। यह उष्णतापीय वर्षा तब होती है जब नीचे से गर्म हवाएँ उठती हैं और ऊपर की सर्द हवाओं से टकराती हैं, तब एक प्रकार की वर्षा हो जाती है। यक्ष के वियोगजन्य निश्वासों से गरम हो कर हवाएँ जब ऊपर उठती थीं, तो वे कुबेर के निवासस्थान, कुबेर पर्वत की सर्दीली हवाओं से टकराती थीं और तभी वहाँ वे विरहजन्य जलद छा गये जिन्हें यक्ष ने संदेशवाही बनाया। इस प्रकार उस उष्णतापीय वर्षा को मेघदूत का जनक मानना चाहिए। हवा की निचली तह जब यक्ष की देह का स्पर्श करती थी तो हवा की ऊपरी सतह उष्णतापज जलद को छू देती थी। इस विद्युत स्पर्श से यक्ष मेघ को संदेश पहुँचा रहा था।

भौतिक भूगोल के अन्तर्गत मुनि कालिदास ने उन सभी भौतिक तत्त्वों का निरूपण किया है जो उस समय भारत की भूमि पर समुपस्थित थे। रामगिरि से अलकापुरी तक के सारे नगर, मुनि ने उसी प्रकार दर्शाये हैं, जिस प्रकार आधुनिक भूगोल ग्रंथों के मानचित्र में रेल-मार्ग के किनारे महत्त्वपूर्ण व्यापारिक नगर दिखाये जाते हैं या हवाई मार्ग में हवाई अड्डा-स्थल दिखाये जाते हैं। अंतर इतना है कि हवाई जहाज और गाड़ी रुकती चलती है किन्तु मुनि कालिदास ने अपने बादल को रुकने-उतरने से रोक दिया था।

पहाड़ों और पठारों के अंतर का उल्लेख करते हुए स्पष्ट कहा गया है कि विंध्याचल पर्वत के ऊबड़-खाबड़ पठार देश में किस तरह बिखरे हैं यथा,

रेवां द्रक्ष्यस्यु पलोत्रिषमे विंध्यपादे विशीर्णां ' '(पूर्व मेघ)

दर्शाण देश की विदिशा नगरी का उल्लेख करते हुए भूगोल-शास्त्री

ने कहा कि वहाँ जब तुम वेत्रवती नदी का जल पिओगे तो तुम्हें पता चलेगा कि तुम किसी 'कँटीली भौंहों' वाली कामिनी के होंठों का रसपान कर रहे हो ! अर्थात् कहा है कि—

भ्रूभंगं मुखमिव पयो वेत्रवत्याश्चलोर्मि !

वहीं आगे कहा है कि "वहाँ तुम 'नीच' नामक पहाड़ी पर उतर जाना, जहाँ से वृक्ष तुमसे भेंट करके ऐसे सुखी होंगे कि उनके रोम-रोम फहरा उठेंगे !" ध्यान करके देखने से ज्ञात होगा कि वृक्षों की वह रोमावली नहीं किन्तु वे नुकीले काँटे थे ! ऐसे काँटेदार जंगल—जहाँ 'कँटीली भौहों' जैसी नदी हो और जहाँ 'कँटीली रोमावली' वाले वृक्ष हों वह अंग्रेजी में 'कानीफेरस फ़ारेस्ट' कहलाता है। संस्कृत में ऐसे स्थान को 'नीच' स्थान कहा गया होगा ! 'कानी' और 'नीच' में आज भी 'नी' स्वर का साम्य शेष रह गया है !

चराचर गोल की इस विद्या में जलवायु तथा तज्जनित वनस्पतियों का भी उद्धरण है। यथा

नीपं दृष्ट्वा हरित कपिशं···आदि। (पूर्व मेघ)

अर्थात् अधपके कदम्ब पर भौंरे, कदली को चरते हरिण, जंगली धरती की गंध सूँघते हुए हाथी, सब दिखाई देंगे ! आगे उपवन के बाड़, फूले हुए केवड़े एवं काली जामुनों आदि का विवरण है। स्त्रियोचित जामुनी सौंदर्य का वर्णन करके कालिदास ने अपने कवित्व और वनस्पति शास्त्र का अनुपम ज्ञान प्रदर्शित किया है। पाश्चात्य विज्ञानियों को अपरिचित 'शरभ' नामक हिमालयी हरिण को भी कालिदास ने अपने प्राणिशास्त्र के अध्ययन के बल पर लिख दिया है।

न केवल भौतिक एवं आधिभौतिक भूगोल ही वरन् देव एवं मानव भूगोल का भी गहरा अध्ययन कालिदास ने किया था ! भोले यक्ष को इस प्रकार शाप देने वाले कुबेर की खोपड़ी उसी प्रकार चौकोर रही होगी जिस प्रकार हाटिनटाट नामक जाति की खोपड़ियाँ चौकोर रहा करती थीं। कालिदास इसका चित्रण बहुत पहिले ही कर चुके थे !

चराचर गोल की पारिभाषिक शब्दावली, जो आज भी प्रचलित है, को गढ़ने में कालिदास का कितना बड़ा योग रहा है, उसे हँस कर नहीं टाला जा सकता! 'कटिप्रदेशीय' व्यवहारों को भूगोलाचार्य ने समय-समय पर प्रदर्शित किया है! यही विरहज ताप के कारण भविष्य में 'उष्णकटि-प्रदेशीय' भाग कहलाने लगा! जान से मारने वाली रसिक भ्रूभंगिमा को कालिदास ने सदैव विषवत रेखा समझा होगा! अर्थात् वह रेखा जो विष के समान थी और बाद में जिसे भूगोलाचार्यों ने 'इक्वेटर' यानी पृथ्वी को विभाजन करने वाली रेखा कहा! ठीक उसी प्रकार जैसे कमान सरीखी आँखें किसी प्रेमी दिल पर पड़ते ही उसके दो टूक कर देती हैं! वही है 'विषवत् रेखा!'

जलडमरूमध्य, डेल्टा, देश-देशान्तर, समुद्र, ज्वालामुखी, नदी-नाले सभी यथाक्रम कालिदास के भूगोल ग्रंथ में स्थान पाये हुए बैठे हैं। उन्हें खोज कर निकालने भर की देरी है। भूगोल के ज्ञाता अब आगे इसके विषय में अपनी खोजबीन कर सकते हैं! दिशा-निर्देश मैंने कर दिया है।

अपने यहाँ के ऋषि-मुनि बताते हैं कि जब इस ग्रंथ की जुगराफ़िया से कालिदास को संतोष नहीं हुआ तो उन्होंने सिर्फ़ मौसम एवं जलवायु के ही प्रकरण को ले कर एक अलग ग्रंथ लिखा जिसे लोग 'ऋतु संहार' नाम से जानते हैं! वे आगे भी इसी प्रकार वनस्पतियों, पहाड़ों मानवजातियों पर अलग-अलग ग्रंथ लिखने वाले थे; किन्तु कराल काल से किसी का वश नहीं चलता!

मम्मट भट्ट ने अपने 'काव्यप्रकाश' में जिस काव्य को सुन कर आनंदमय हो जाने की चर्चा की है, वह ऐसी ही काव्य पुस्तकें हो सकती हैं जिनमें कवि अपना असली मंतव्य या भेद छिपा कर काव्य के माध्यम से वह सब कुछ कह दे जो वह छिपाना चाहता है! भट्टनायक ने भी यह कहा है। किन्तु मेरी तुच्छ मति में इस प्रकार के ग्रंथों में यही भय रहता है कि यदि जनता कहीं काव्य के सौन्दर्य पर ही भूलुंठित हो गयी तो लेखक या कवि का वास्तविक संदेश एवं अभिप्राय सदा के लिए ढँका ही रह जाता

है, जब तक उसे खोलने के लिए कोई इसी प्रकार से यत्नवान न हो! यदि ऐसा न हुआ होता, तो आज अपने इस भारत में अनुपम काव्य-ग्रंथों के होने के बावजूद भी, हम यह क्यों कहते कि हमारे यहाँ विज्ञान की पुस्तकें नहीं हैं।

........केर बेर को संग

अगर मर्ज़ एक सा ही हो तो फिर उसका इलाज साथ-साथ खोजने में काफ़ी रस मिलने लगता है। बिशू बाबू कवि थे और पीताम्बर जी आलोचना लिखा करते थे। दोनों ही बेमकान होने की परेशानी से बीमार थे और उसका रामबाण खोज रहे थे। रामबाण यदि कहीं था तो वह केवल किसी मकान मालिक के ही पास था जो उन्हें अत्यन्त दया करके रहने के लिये ठौर दे सकता था। अलग-अलग दोनों मकान मालिक की पूरी फ़ीस दे पाने में अपने को असमर्थ पा रहे थे इसीलिये दोनों ने मिल कर उसके जेब की गहराई नापने का यत्न करना प्रारम्भ किया। हर तरह से उन्होंने इस बीमारी के पीछे जेहाद का नारा लगा दिया।

मकान मालिकों से मिल-मिल कर उन्हें संसार की असारता और कवि के लोकप्रिय एवं जनता में चिर-परिचित होने का भ्रम दूर होने लगा। जाने क्यों हर एक मकान मालिक उन्हें देखते ही उनकी नेकनीयती पर से विश्वास उठा लेने को तैयार हो जाता था। वे किरायेदार रखना चाहते तो ज़रूर थे पर वे शराफ़त का सार्टिफ़िकेट चाहते थे। मकान मालिक यह भी चाहते थे कि वे दोनों अपने पिछले मकान मालिक से यह लिखवा कर लायें कि वे झगड़ालू नहीं हैं और उन्होंने पिछला मकान झगड़ा करके नहीं छोड़ा है। यह सब ज़ाहिर ही है कि दोनों के बूते का नहीं था।

कवि और अलोचक दोनों ही दिल थामे, साथ-साथ मकान पाने के लिये दूध और पानी की तरह अपना व्यक्तित्व मिलाये हुये चक्कर काट रहे थे। कवि बिशू जब भरी दुपहरी में चलता और उसे 'सोन जुही' सा बताता, तो आलोचक पीताम्बर फ़ौरन दिन का टेम्परेचर बता देता। दोनों हर बार कला की बलैइया लेकर दरवाज़े खटखटाते मगर मकान न मिला। कवि बिशू को अपने बाप की याद आती जब वे उसे समझाते थे कि "बेटा संसार में राष्ट्रपति होने से भी अच्छा दरोग़ा होना है! कभी किसी चीज़ के लिये परेशानी नहीं होगी!" मगर बिशू ने तब उन्हें कान नहीं दिया! आज वह सोचता है कि हाय वह दरोग़ा ही क्यों नहीं हुआ? आलोचक पीताम्बर अख़बारी के संवाददाता का भाग्य सराहता क्योंकि उसके सारे परिचित अख़बारी-जीव अच्छे घरों में रह रहे थे! लेकिन वह जिस अंधी गली में चल पड़ा था उसका भविष्य उसे दिखाई नहीं पड़ रहा था!

मगर इनकी तपस्या की प्रखर किरणों ने भगवान का नवनीत हृदय एकदम पिघला डाला। एकाएक एक दिन ऐसा चमत्कार हुआ कि एक मकान ख़ाली हुआ और इनकी किस्मत जाग उठी!

"चार कमरों का सौ रुपया?"

"ख़ैर कोई हर्ज़ नहीं!"

"अमाँ हाँ हम दोनों ही मिल कर देंगे न? क्या हर्ज़ है?"

"मैं तो पहले ही कह रहा हूँ!"

"सामान ले आओ बस!"

और वे घर में आ गये!

"देखो यार पीताम्बर! यह खिड़की देखो! वाह! इसे तो जब चाहो बन्द भी कर सकते हो! यह देखो। फिर जब चाहो इसे खोल भी सकते हो। खोलते ही कितना अनुपम दृश्य सामने दिखाई पड़ता है! देखो?" बिशू महाशय घर की प्रशंसा के पुल बाँध रहे थे।

'सामने ताल पर धोबी जुटे हैं। कैसा सुन्दर दृश्य है। तुम्हें तो बिशू अब जन-जीवन का निकटतम सम्पर्क मिलेगा। हमारी असली संस्कृति तो यही है! देखो उन बेचारे गधों के पीठ पर लादी लदी है। वे निरीह चुप-चाप चले जा रहे हैं। हम इसका विरोध करेंगे!' पीताम्बर बोला।

बिशू बाबू विभोर हो उठे।

इतने दिनों की तपस्या का जो वरदान उन्हें मिला था उसके लिये वे किसे धन्यवाद दें, इसी उलझन में वे पड़े हुये थे। इस वक्त शायद घर की खूबसूरती से उनके मन का उत्साह उतना नहीं उछल रहा था जितना कि अपने भीतरी विजय के अह्लाद से! उनकी 'मगनता' के पीछे उस भारी दौड़धूप और ज़िल्लत की समाप्ति थी जो पिछले तीन महनों में उठानी पड़ी थी। पैसे चले जायँगे तो क्या हुआ? कवि का अहम् तो बचा रहेगा और अगर अहम् बचा रह गया तो समझिये सब कुछ बचा रह गया। बिशू बाबू पीताम्बर के साथ सारे घर का चक्कर इस तरह लगा रहे थे कि जैसे वह घर खुद उन्होंने ही बनवाया हो। सहसा बोले :

"देखो यह कमरा तुम ले लेना। ठीक तुम्हारी पत्नी के पास वाला कमरा है। उधर सामने वाला मेरा अध्ययन कक्ष रहेगा। है न?"

पीताम्बर भी पिछली परेशानियाँ से काफ़ी संत्रस्त थे। फ़ौरन हुँकारी भरते हुये फूट पड़े :

"ज़रूर-ज़रूर! और बिशू बाबू इस छत का महत्व तो आपने समझा ही नहीं। इतनी बड़ी छत! इसे तो आप लॉन समझिये लॉन! मालूम है, बादशाह फ़ारूख़ अपने छत पर ही लान रखते थे।"

बिशू बाबू कुछ मुस्करा उठे। एक बन्द इल्मारी खोलते हुये बोले :

"चलो यह मकान मिल जाने से हम लोगों के लिखने-पढ़ने की बड़ी सुविधा रहेगी। मैं कहता हूँ कि तुम मेरे साथ रहोगे तो तुम आलोचना के नये धरातलों को तोड़ डालोगे!! तुम्हारा नया प्रयास होगा! बात यह है कि जब तक आलोचक किसी रचनाकार के निकटतम सम्पर्क को नहीं प्राप्त करता तब तक रचनात्मक कृतित्व के बारे में उसका ज्ञान ज़ीरो रहता है!"

"हाँ SSS! और बिशू······इस बार पीताम्बर के स्वरों में थोड़ा रोमांस झलकने लगा था लेकिन फिर भी उसमें आलोचक के गले की खर-खराहट भी काफ़ी मात्रा में मौजूद थी. 'यदि तुम इस तरफ़ वाली खिड़की खोलकर उस पार देखोगे तो···तुम्हारी निगाहें सद्यः स्नाता-उन्मुक्त-केशा वनिताओं को भीगी धोतियाँ, अपने छज्जों पर पसारता हुआ देखेंगी। मुझे पूरा विश्वास है कि अब तुम्हारी जन चेतना में रोमाँस का एक नया पुट देखने को मिलेगा जो निश्चित ही एक अत्यन्त स्वस्थ प्रवृत्ति होगी।"

बिशू भरोसे की हँसी-हँस पड़ा। उसके स्वर प्यानों की तरह बज रहे थे।

कुत्ते भूँकने लगे थे। रास्ता चलते भले आदमियों की भी पहचान अब पुलीस वाले करने लगे थे। बारह का घन्टा बजने को ही था। इसी वक्त पीताम्बर के दरवाज़े पर खटखटाहट हुई।

पीताम्बर की पत्नी ने उठकर दरवाज़ा खोलने से इनकार कर दिया।

"बिशू के अलावा कौन हो सकता है?" उठकर दरवाज़ा खोलते हुये पीताम्बर ने कहा।

"तुम्हारा ख्याल ठीक था। मैं ही हूँ। बात यह है कि मैंने अभी-अभी एक अत्यन्त युग प्रवर्तक महत्व पूर्ण कृति समाप्त की है। सोचा कि तुम्हें सुना कर ही सोऊँ। बात यह है······"

"ठीक है। लेकिन आज तीसरी बार आप अपनी महत्वपूर्ण कृति सुनाने के लिये इस तरह रात में मुझे बोर करने के लिये आये हैं! यह बात आपको शायद याद नहीं रह गई है!" पीताम्बर का स्वर कुछ कड़ुवा था।

बिशू ने सब कुछ टालते हुये कहा—

"अमाँ होगा भी! लो एक बार सुन लो! तुम्हारी सारी नींद हवा न हो जाये तो कहना कि क्या कहता था····तुम सुनोगे तो मुझे माफ़ कर दोगे!"

पीताम्बर को बार-बार अपनी चारपाई की सुधि आ रही थी लेकिन वह यह अच्छी तरह जानता था कि यदि बिशू महाशय के सामने वह प्रशंसा का चारा न डालेगा तो वह सवेरा करके ही कमरे से अलग होने का ख़्याल करेगा ! हार कर उसने अपनी रज़ामन्दी ज़ाहिर की और उधर बिशू ने अपनी कविता पढ़ी :

"ओ ग्वाले
मतवाले
मेरे साले की जैसी साइकिल पर
तुम दूध की बाल्टी लटका कर लाते हो !
तुमीं भोर की अगवानी हो !
ओ अख़बार वाले
सइकिल के कैरियर पर अख़बार बाँधे—
"भारत" "लीडर" "पत्रिका" "आज" "नेशनल हेराल्ड" "धर्मयुग"
बोलते पंचम स्वरों में
तुमीं भोर के प्रथम गायक हो !
ओ धोबिन, रजक पुत्री !
उभरी जवानी जैसी भरी लादी युत—
तुम उषा-पुत्री हो !
ओ धोबिन की माँ प्रौढ़ा, पकेठ
तुमीं स्वयं उषा हो !
ओ ग्वाले मतवाले
ओ अख़बार वाले
ओ धोबिन तू क्यों मेरे पाले······?
ओह दूध, अख़बार और गधे लादी युत !
ओ तुम सब मेरी ईर्ष्या के पात्र !"

बिशू सुना कर चुप हो गया ! थोड़ी देर तक पीताम्बर की प्रतिक्रिया की प्रतीक्षा करने के बाद बोला—

"क्यों, पसन्द नहीं आई क्या ?"

"बाद में बताऊँगा। इसे 'मयूर' में छापने के लिये भेज दो। मैं इसकी प्रशंसा लिख दूँगा।' पीताम्बर ने जमुहाई भर कर कहा।

'अच्छी बात है।" बिशू उठकर चलने लगा।

उस दिन दरवाज़े पर जैसे ही थपथपाहट सुनाई पड़ी तैसे ही पीताम्बर ने दरवाज़ा खोला और बिशू पर बरस पड़ा—

"तुमको क्या हो गया है जी ? रोज़ वक्त बे वक्त सुबह शाम इस तरह दरवाज़े पर खड़े रहते हो! अजी तुम्हें नींद भी नहीं आती!" पीताम्बर की आवाज़ में अपमान की ध्वनि कोई भी भला आदमी पा सकता था।

"तुमने मुझे ऐसे भी अपमानित किया है, अब और भी जले पर नमक छिड़क रहे हो।" बिशू भी फूट पड़ा, "आख़िर यह सब क्या है? मैं जानना चाहता हूँ कि आख़िर आपकी मंशा क्या है?" अपने हाथ की एक पत्रिका की तरफ़ इशारा करते हुये वह बोलने लगा—"यह आपकी शिष्ठता है ? आजतक ऐसा मैंने कहीं नहीं देखा कि किसी पत्र में कविता छपे और साथ ही साथ उसकी आलोचना भी वहीं 'फुटनोट' के रूप में छापी जाय ! हुँह···! यह सब क्या वाहियात तमाशा है।"

"तो इसके लिये संपादक से कहिये ! मैं भला क्या कर सकता हूँ ?" पीताम्बर कुछ सकपका कर बोला।

लेकिन बिशू भी उस वक्त तैयार होकर आया था।

"सम्पादक से तो बाद में कहूँगा। पहले तो आप से निबटूँगा जिसकी क़लम से यह सब निकला है। हुँह···! आप फ़रमाते हैं कि मैं कविता का ककहरा भी नहीं जानता ! आपका आदेश है कि मैं कविता लिखना छोड़ कर मूँगफली या चाट बेचूँ तभी जनता के निकट आ सकता हूँ। नॉन सेंस !! तिस पर आपको अपनी निष्पक्ष आलोचना पर गर्व है। छिः !!"

"ख़ैर वह तो मैं अब भी कहता हूँ !" पीताम्बर पूर्णाहुति देने पर कटिबद्ध था।

"चुप रहिये! शायद आप भूल गये कि जब आप मकान के पीछे दर दर की ठोकरें खा रहे थे तो मैंने ही आपको यह मकान दिलवाया। शायद उसी का यह नतीजा है! भलाई का फल यह है कि आप मेरे बारे में जनता में बदगुमानी फैला रहे हैं!!"

"मैं समझता हूँ मकान पाने में मेरा हिस्सा कुछ कम नहीं है। दौड़ धूप में मैं आपसे पीछे नहीं रहा।...मैं जो कुछ कह रहा हूँ उसे आप ध्यान से सुनिये क्योंकि यह आपका फ़र्ज़ है! मैं आपका दोस्त हूँ तो क्या हुआ? आप सिर्फ़ एक कवि हैं और मैं आलोचक हूँ। मेरी बातों को आप नहीं सुनेंगे तो आप कहीं के नहीं रहेंगे!" पीताम्बर अपने भाषण को लेख में बदल देना चाहता था।

"अच्छा तो आप समझते हैं कि मकान मुझे आपकी बदौलत मिला है? ख़ैर इसका फ़ैसला तो मकान मालिक ही कर सकता है! मुझे कुछ नहीं कहना है। हुँह! आप दिनों रात पंखा चलाते हैं। हीटर और रेडिओ इस्तेमाल करते हैं और मेरे पास कुल ले दे कर एक बल्ब है। तिस पर भी बिजली का आधा बिल मैं ही चुकाता हूँ—शायद इसीलिये कि आप के श्रीमुख से यह सब अपशब्द सुनने को मिलें!" बिशू अब बहस में नीचे की तरफ़ अर्थात पतनोन्मुख रूढ़ियों की ओर संकेत कर रहा था!

"मैं जहाँ तक जानता हूँ तुम अपनी रचनायें सुनने के लिये ही रेडिओ चलाते हो। फ़िल्मी गाने तुम अपने गीतों की प्रेरणा के लिये सुनते हो! यह तो कहो मेरी ही उदारता थी कि मैं दोस्त के नाते तुमको अपनी क़ीमती मशीन छूने के लिये मना नहीं करता था।"

बिशू जो कुछ भी कह रहा था पीताम्बर उसे सिर्फ़ विश्लेषणात्मक ढंग से चीर चीर कर उसका असली नक़्शा दिखाता जा रहा था। यह सब देख कर बिशू के क्रोध का पारावार न रहा। कवि का मित्र आलोचक हो, यह आज प्रथम बार उसे खला। उसने फिर एक वार किया—

"इस कदर पाइप का इस्तेमाल तुम्हारे घर वाले करते हैं, मगर मैंने

कभी एतराज़ नहीं किया। आख़िर उसका ख़र्च भी तो मैं ही देता हूँ। मैं तो पाइप..."

"उसकी चर्चा आप न करें तो ही अच्छा हो। मेरी पत्नी ने मुझसे कई बार कहा कि मैं आपको वक्त बेवक्त पाइप बन्द करने के बहाने इस छत पर आने के लिये मना कर दूँ। मिस्टर! हर एक औरत एक ही तरह की नहीं होती। मगर मैंने सोचा दोस्त का मामला है। साथ साथ रह रहें हैं तब क्या कहें?"

पीताम्बर का भाषण जैसे सुन्दर निबन्ध के रूप में बिना किसी फ़ैसले के समाप्त हो गया था। बिशू उठकर चल दिया।

और बिशू जब रिक्शे वाले को आवाज़ दे रहा था तभी पीताम्बर ने कमरे में प्रवेश किया। कमरे का सामान समेटा जा चुका था।

"लेकिन मेरे दोस्त तुम जा कहाँ रहे हो? मैंने तो कोई भी बात ऐसी नहीं कही थी।"

पीताम्बर महाशय आलोचकों की आदत के मुताबिक अपमान करने के बाद 'प्राइवेटली' अब क्षमा माँगने आ पहुँचे थे। बिशू सामान समेट कर घर छोड़ने का इरादा कर चुका था। अब वह आख़िरी लेन-देन कर रहा था।

"नहीं भाई बहुत हो गया। हम लोगों को अलग-अलग ही रहना चाहिए। मैं किसी होटल में पड़ रहूँगा। क्या करना है यहाँ रहकर?"

"होटल? क्या कहते हो मित्र? मेरे रहते तुम होटल में रहोगे? पार्टनर! मैंने जो कुछ कहा था सब वापस लेता हूँ। घर तुम्हारा है प्यारे। तुम रहो और धूम से रहो। रेडियो तुम्हारा है पाइप तुम्हारा है। तुम्हें कोई कुछ कहे तो कहना!"

पीताम्बर के ऊबड़-खाबड़ दिमाग़ में इस वक्त ममता का दौरा उतना तेज़ नहीं पड़ रहा था जितना अगले महीने में किराये के रूप में पूरी तनख़्वाह कुर्क़ हो जाने का ख़्याल चक्कर काट रहा था। फिर भी वह उस रोड़े को ममत्व के मक्खन से ढाँकने की पूरी कोशिश कर रहा था।

"मैं तो समझता हूँ पीताम्बर भाई कि अच्छा यही है कि हम लोग अलग अलग रहें, वही ठीक होगा। तुम भी चैन से आलोचना कर पाओगे ! साथ रहूँगा तो शायद कभी कुछ लिहाज़ कर जाओ।" बिशू का टोन पीताम्बर की मखनियाँ वाणी सुनकर कुछ नर्म पड़ गया था। नया मकान ढूँढने का चक्कर भी उसके दिमाग़ को नचाने लगा था।

"चिन्ता न करो मित्र ! नया लेख लिखा दूँगा कल ही 'सपोर्ट' कर दूँगा तुमको। तुम चले जाओगे तो तुम्हारी भाभी रो रो कर जान दे देंगी। तुमने उनके मज़ाक का बुरा मान लिया, यही सोच सोच कर वह बीमार हो जायेंगी। इतने बड़े मकान में हम रह कर क्या करेंगे ? तुम जा नहीं सकते बिशू !"

इतना कह कर 'बिशू की काव्यचिंतना में नये' युग की छाया' शीर्षक लेख सोचते हुये पीताम्बर ने उसका बँधा-बँधाया होल्डाल खोलना शुरू किरदया।

तब से आज तक वह कवि और यह आलोचक कहीं अलग अलग ठिकाना चाहते हैं लेकिन 'रेंट कन्ट्रोलर' शेर और बकरी को एक ही घाट पानी पिला रहे हैं। दोनों ही न अलग रहने की हिम्मत कर पाते हैं और न साथ रहकर दम ले पाते हैं। एक प्रगतिशील कविता से दूर भागता है और दूसरा ऐसे हत्यारे आलोचक से !

लेकिन भाग कर जायँ तो जाँय कहाँ ?

भारतीय संस्कृति में लातों की परम्परा
एक लघु गवेषणा

भारतीय संस्कृति का पुनर्मूल्यांकन करने वाले अनेक विद्वानों ने यथेष्ठ अनिवर्चनीय निर्विवाद सत्यों का उद्‌घाटन समय समय पर किया है। जैसा कि मानव मात्र की सीमायें हैं, यह भी सत्य ही है कि वे संस्कृति के सभी महत्वपूर्ण पक्षों पर ध्यान नहीं दे पाये। इन्हीं अध्यानित वस्तुओं में हमारा प्रतिपाद्य विषय भी है। इसलिये ये अत्यन्त आवश्यक हो जाता है कि संस्कृति की पूर्ण व्याख्या करते समय हमें लातों की परम्परा पर भी एक दृष्टिपात कर लेना चाहिये।

यहाँ प्रश्न उठता है कि संस्कृति क्या है? यहीं उत्तर मिलता है कि संस्कृति वह है जिसे हम बिना समझे-बूझे कर गुज़रने में हिचके नहीं। फिर यहाँ प्रश्न उठता है कि कारण क्या है? फिर यहीं उत्तर मिलता है कि कारण यह है कि उसके नीचे उस जनधारा की अगाध शक्ति प्रवाहित होती रहती है जो संस्कृति को बनाती है, जंगम बनाती है और चिर-प्रवहमान बनाती है!

लात—जिसे पैर, पाँव, गोड़, पद, चरण तथा टाँग आदि अनेक रूपों से यथा स्थान ज़रूरतानुसार पुकारा गया है, न सिर्फ़ हमारी देह का ही बल्कि हमारी संस्कृति का ही अविच्छिन्न अंग रहा है। फिर प्रश्न उठता है कि इसका क्या कारण है? यह क्यों हुआ? फिर यहीं उत्तर मिलता है

कि अनेक अनिर्वचनीय सत्यों की ही भाँति यह भी एक सत्य है कि यदि मानव के पास लात न होते तो वह एक जड़ प्राणी होता है ! जड़ता से हमें चेतनता की ओर ले जाने वाला साधन यही लात है । निश्चय ही हमें यह बात दुहरानी पड़ेगी कि लात ही प्रगति और जीवन का चिन्ह है । बिना इसके, हम भी उसी तरह से विजड़ित स्टैटिक बने रहते, जैसे पेड़ और पहाड़ ! मानव की प्रगतिशीलता का प्रतिनिधित्व इन्हीं लातों ने किया ! इसी तथ्य से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि पुरोगामी संस्कृति के व्याख्याकारों ने लातों की क्यों उपेक्षा की ?

विश्व साहित्य की स्पष्टोक्तियों के अनुसार ग्रीक साहित्य में बड़े सुन्दर ढंग से कहा गया है कि साहित्य का निर्झर तो घोड़े की टाप से ही फूट पड़ा था ! अपने यहाँ भी क्या नहीं है जो हम विदेशों का मुँह देखें ? आपको स्मरण ही होगा कि सुप्रसिद्ध मुनि भृगु ने सत्ताधारी हरि को जो लात मारी थी और उससे उनका जो कुछ खोया था, सो उसका आज तक पता नहीं चल पाया है—

का रहीम हरि को गयौ, जो भृगु मारी लात ?

अर्थात् जो भृगु ने लात मारी उससे हरि का क्या गया (सो आज तक पता नहीं चला ।)

यदि शब्दों की आत्मा होती है, तो लात की अपनी आत्मा है । लात कहने मात्र से ही एक स्फूर्ति एक आनन्द का बोध होता है । लात ही एक ऐसा शब्द है जो कर्त्ता, कर्म, क्रिया, विशेषण आदि भाषा के विविध रंग रूपों में प्रयोग होता है । इस प्रकार के शब्दों की अवहेलना करना अपनी संस्कृति को ही अस्वीकार कर देने के बराबर होगा ! किस प्रकार यह शब्द हमारी संस्कृति में अनेक भावों में व्यक्त हुआ है, उसका विशद विवेचन आगे करने का प्रयास किया जायगा ।

लात से सौन्दर्य विकास :

सुन्दरता हमारे विवेक की कसौटी है । हम अपने हर प्रयोग में सचेष्ट सुन्दर से सुन्दरतम् की ओर बढ़ते हैं । हमारा यही प्रयत्न मानवीय

विचारधारा में क्रान्ति उपस्थित करता है ! हो सकता है कि हमारा माध्यम उतना सुन्दर न हो लेकिन हमारे प्रयत्न का फल निश्चय ही सुन्दर की सृष्टि करता है। अपने यहाँ कहा गया है कि जब षोडष वर्षीया सुन्दरी तरुणी अशोक मंजरी के वृक्ष पर पदाघात करती थी तो वह वृक्ष पुष्पित पल्लवित एवं प्रफुल्लित हो उठता था ! जन जीवन में इस प्रकार के पदाघात से खिलने वाले उदाहरण आज भी परिलक्षित हो सकते हैं ! प्रकृति से जन-जीवन की ओर हमारी संस्कृति की धारा कैसे आई, इस प्रकार के उदाहरणों से अत्यन्त ही स्पष्ट है !

लात से मोक्ष प्राप्ति :

इस विषय पर हमारे सब विद्वानों का मत एक है कि लात किसी वर्ग-विशेष का प्रतिनिधित्व नहीं करता वरन् वह सदा से ही एक जीवित शक्ति का उदाहरण बन कर हमारे सम्मुख आया है ! कहा जाता है कि स्वयं श्री राम को जब अहिल्या के तारने की समस्या का सामना करना पड़ा तो उन्होंने इसी माध्यम का आश्रय ग्रहण किया। आज उसका फल किसी से छिपा नहीं है। चेतनापुंज लात के स्पर्श होते ही जड़ अहिल्या हिलने डोलने, बतालाने वाली चेतन अहिल्या बन गई ! जड़ता मानवता में परिवर्तित हो गई !

लात से ज्ञानार्जन और भक्ति :

भारतीय संस्कृति का एक महत्वपूर्ण भाग ज्ञान और भक्ति का क्षेत्र था ! इस दृष्टि से भी लातों का महत्व कम नहीं है। साम्राज्यवादी रावण ने देशद्रोही विभीषण को जब देशनिकाला का दण्ड, बिना मुक़दमा चलाये हुये ही दे दिया तो लात के माध्यम से ही यह क्रिया सम्पन्न हुई थी। स्वयं गोस्वामी तुलसीदास जी ने इसकी पुष्टि करते हुये लिखा है—

'तात-लात रावन मोहिं मारा·········

लातों के प्रयोग का लोभ तो बड़े-बड़े साधकों द्वारा भी संवरण नहीं किया जा पाता था। सम्मिलित परिवार के बूर्ज़ुवा बन्धनों में जकड़े हुये

भरत और शत्रुघ्न जैसे पात्रों ने संभ्रांत परिवार की मर्यादा का उल्लंघन करके इसका प्रयोग किया—

'हुमकि लात तकि कूबरि मारा'.........

कहना न होगा कि इन प्रयोगों का प्रभाव निश्चित रूप से विभीषण और कूबरी के मन में ज्ञानलोक की किरणें विकीर्ण कर देता रहा होगा और निर्मल चित्त में भक्ति का संचार होता होगा !

लात और साहित्य :

लात मारना, लतियाना, लात खाना, दुलत्ती झाड़ना यह सब किसी न किसी रूप में उसी विराट तत्व की ओर संकेत करते हैं, जिस का वर्णन हम करते आ रहे हैं। हाँ, मुहाविरों में आ जाने के कारण शब्द की आत्मा में निखार अवश्य आ गया है! साहित्य और लात का तो अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। अनेक साहित्यकारों और कलाकारों के जीवन में लात ने जो विलक्षण व्याकुलता, भावों की टकराहट, चेतना तथा प्रकाश भर दिया है, उससे उऋण होना असम्भव है। प्रसिद्ध है कि तुलसीदास को उनकी पत्नी ने इसी माध्यम से समझाया था। सूरदास को भी चिन्तामणि नाम्नी वेश्या के यहाँ इसी प्रकार के मुहाविरे का सहसा सामना करना पड़ा था। आज इस बात को दोहराने की आवश्यकता नहीं है कि इन प्रयोगों के फल अप्रत्याशित रूप से सफल हुये।

इसी प्रकार हम देखते हैं कि भौजाई की दुलत्ती ने रीतिकाल में भूषण की कविताई को जन्म दिया। आधुनिक काल में भी लातों के सौजन्य से प्राप्त अनेक कृतियाँ हमारे साहित्य को गौरवान्वित कर रही है। वस्तुतः सत्य यहीं है कि जब तक कलाकार के मन पर कोई ठेसात्मक अनुभूति नहीं होती तब तक उसमें मानवीय करुणा की भावना का संचार हो ही नहीं पाता ! साहित्य की वाणी का दर्द इसी लात के ही माध्यम से फूटता है। यही सच्चे दर्द की कसौटी है !

कहना होगा कि प्रणय लीला में, जिस पर आज की निन्यानबे प्रतिशत कविता टिकी हुई है, लातों का कितना महत्वपूर्ण योग रहा है। किन्हीं

परिस्थितियों में लातों का ही अभिसार करते हुये किसी कवि ने कितना मार्मिक और करुणा विगलित चित्रण किया है—

"शरद से उजले धुले ये पाँव मेरी गोद में।"

एक दूसरे सौन्दर्यवादी अवस्था के कवि ने प्रणय की एकांत साधना को किस प्रकार अपने जीवन का जागरण घोषित किया है वह भी सुननीय है—

"जाग यह जीवन गया प्रेयसि तुम्हारी लात से,
बस ज़रा-सी बात से, इतनी ज़रा-सी बात से।"

काव्य सौन्दर्य और प्रकृति वर्णन में भूले रहने वाले कवि भी इस माध्यम की शक्ति से अपरिचित नहीं हैं—

"सितारों को ये किसने लात मारी।
गगन में आज जो छितरा गये हैं।।"

युगान्तरकारी अस्त्र—लात :

संतुलित ढंग से और बिना पूर्वग्रहों को मन में स्थान दिये हुए यदि लात के विषय में आप और हम जागरूकता के साथ सोचें तो निश्चय ही इसी निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि लात युगांतर करने वाला अस्त्र है। जाने कितनों भूले-भटकों को यह राह सुझाने वाला एक सशक्त माध्यम रहा है। जीवन के दर्शन और दृष्टिकोण के बदलने में लात का अनुपम सम्पर्क और सहयोग रहा है। जनधारा ने इस अस्त्र का पूरा मूल्य पहचाना है, यथावसर इसके प्रयोग में कमी नहीं दिखाई! लात से ही विकासक्रम बढ़ेगा। इसी के सहारे हम धूलि कणों को भी ऊपर बढ़ा-चढ़ा सकेंगे क्योंकि, जैसा कि अपने यहाँ कहा गया है—

"लातहि मारे सिर चढ़त नीच को धूरि समान।"

धोबी—वह भी पुराना !

'काजल की कोठरी में कैसो हूँ सयानो जाय, एक लीक काजल की लागिहै, पै लागि है' इसे आप कभी आज़माना चाहें तो घर गिरिस्थी का बोझ अपने सिर पर लाद लीजिये ! आप बड़े विरागी बनते हों, बड़े 'जल में कमलवत' रहने के हामी हों, लेकिन ज़रा इस ओखली में सिर देकर निकल जाइये तो आप को मर्द बखानूँ ! घर के मसले जब उठते हैं तो उनके सामने दुनियाँ की सारी समस्याएँ, सारे 'जिनेवा', 'बाडुंग' और 'लेक सक्सेस' हेच दिखाई पड़ते हैं ! जी में यही आता है डलेस साहब, मिस्टर चर्चिल और मार्शल बुल्गानिन को एक बार इस किचकिच में लाकर कुछ दिनों के लिये डाल दिया जाय तो सारी वक्तव्यबाज़ी एक दिन में निकल जाय ! मगर ख़ुदा गंजे को नाख़ून नहीं देता ! उसे तो बस वह गंजी खोपड़ी ही देता है जिस पर जो चाहे आकर एक तड़ी जमा जाय ! सो बेचारा क्या करे ! खाता है और ग़म खाता है !

मेरे धोबी साहब का यही हाल है। मेरी गिरिस्थी को मासूम गंजी खोपड़ी समझ कर वह अपना हर हाथ इस्तेमाल करते हैं और उसे भरपूर आज़माते हैं। तबीयत से महापरमहंस हैं—उनके ऊपर डाँट फटकार, कहासुनी, ऊँच-नीच किसी चीज़ का कोई असर नहीं होता है ! उन्हें यह विश्वास है कि बाबूजी को दूसरा धोबी नहीं मिल सकता है और मुझे भी

पूरी यक़ीन जमने लगा है कि यह चला जायगा तो मैं कहीं का न रहूँगा। मगर इस विश्वास के बीच में कमबख्त मेरी आँखें आ जाती हैं। जो कपड़ा उठाइये उसमें किसी पर किसी दूसरे कपड़े का रंग चढ़ गया है! कमीज़ें उठाता हूँ तो हर बार सब बटन ग़ायब हैं। पतलून देखता हूँ तो उसके पाँयचे पर ग़लत इस्त्री फेरी हुई है—नतीजा यह कि पतलून सिलावट के बावजूद भी पैजामा दिख रही है! पहिले बेचारी मेरी पत्नी मेरा ग़ुस्सा बर्दाश्त करतीं थीं। हर कपड़े निकाल कर मैं उनके सामने फेंकता जाता था और बड़बड़ाता जाता था! मगर अब वे भी चालाक हो गई हैं। धोबी से मेरी सीधी बातचीत करा दी। नतीजा यह हुआ कि ग़ुस्सा निकालने का एक रहासहा मौका भी जाता रहा!

धोबियों में कल्लू अजीब है। हमारे बाबूजी के वक्त से इस घर के कपड़े धोता चला आ रहा है। बूढ़ा हो चला है! कुछ कहो तो वक्त-बे-वक्त कह बैठेगा 'भइया तुम्हें अपने हाथों खिलाया है!' सात ख़ून तो इसी एक बात पर माफ़ हो जाते हैं। कोई राजा राव होते तो इसी बात पर हाथी, घोड़े, ज़मीन राजपाट जाने क्या-क्या सौंप जाते! एक मैं हूँ कि ज़रा सा कमीज के बटन टूट जाने पर हंगामा मचाये हूँ! शर्म से अपने आप गर्दन झुक जाती है! मगर उनके भी रवइये ऐसे हैं कि मैं हार जाता हूँ। पहिले तो हज़रत हर हफ़्ते कपड़ा लाया और ले जाया करते थे मगर इधर चार छः महीनों से उन्होंने शायद अपने घर का कलेंडर बदल दिया है जिसमें सिर्फ़ महीनों का या कभी-कभी पखवारों का जिक्र हुआ लगता है! हफ़्ते नाम की चीज़ तो उस कलेंडर में पाना नेता और जनता में संबंध ढूँढना मात्र होगा! इसके पीछे बात सिर्फ़ इतनी सी थी कि उन्होंने बहू जी से कह-सुन कर अपना हिसाब माहवारी कर लिया था—यानी उन्हें अब कपड़ों से मतलब नहीं बल्कि पहिली या दूसरी को मिलने वाली तनख्वाह से रह गया था।

इतवार का दिन था। सिर पर गट्ठर लादे हुए कल्लू महाशय ने प्रवेश किया। कोने में लठिया टिकाई। तब तक मैं जो छः दिन से धोबी

की राह देख रहा था, उबल पड़ा—

"कल्लू क्या मरज़ी है ? कपड़े धोना है कि नहीं ? फ़ुर्सत न हो तो हम दूसरा इंतिज़ाम कर लें ?"

कल्लू के लिये यह कोई नया वाक्य नहीं था। गट्ठर को पास पड़ी हुई खाट पर उतारता हुआ बोला—

"काहे बाबूजी, काहे न धोउब ? देर होइगै अब की तौ देखबै भयौ है कस परलै मची है ! इन्दर भगवान अस कोपे हैं कि मनई कै जियब मुस्किल होइ गवा है !···घर मा घुटना भर तौ पानी होइ गवा है।"

साफ़ जाहिर बात को भी मैं मानने को तैयार नहीं था—

"हाँ हाँ एक अब की बारिश हो गई है, लेकिन हर बार तुमको क्या हो जाता है ? तुम्हें तो बस एक न एक बहाना चाहिये। अबकी पानी बरस गया तो तब की बहू बीमार थी ! कभी सब्जी लाने के लिये पैसे नहीं थे तो कभी लड़के को फोड़ा हो गया ! जानते हो कि आख़िर बाबू जी मुझे छोड़ कर कहाँ जायँगे ?"

चतुर कल्लू ने बात का बतंगड़ बनाना उचित नहीं समझा।

"अच्छा लेव ! कपड़ा मिलाय लेव ! हमार सब कपड़ा घाट पै सुखै के खातिर पड़ा है। सब से पहिले आपै कै कपड़ा लै आएन हैं। लेव आठ कमीज हैं—देख लेव अबकी बटन-सटन नाहीं टूटा है। ई हैं पन्द्रह ब्लाउज···"

और मैं अपने हाथ में धोबी की कापी लेकर हिसाब मिलाने लगा।

"हूँ। दस पैजामे···" मैं बोला।

इस बार उसने "हूँ" कहा।

वह गिनाता गया पाँच पैंट, छः चादर, पाँच टेबुलक्लाथ, सात बनियाइन, बारह धोती·····

तब तक बहू जी आ गई थीं।

"यह क्या कल्लू ? मारा मेरी छींट की धोती को सत्यानास कर डाला। कहा था कि भट्ठी न चढ़ाना ! मगर तुम अपनी भर करते हो !

"अबहिन परसों हजूर! मोरे मुहल्ला मा बड़ी जबर चोरी भई है सरकार! आजि काल्हि राति मा तनी बेखबर होइ के नाहीं सोवै का चाही। इहै दिन तौ चोरन कै होत है.। हमरे हियाँ गोपी.सेठ तौ बड़े रहीस मनई हैं! तौन उनकै रोसनदान तोड़ के चोर घुसि गवा औ सोने कै आठ सिल्ली उठाय लै गवा। जनम भरे कै बाप-दादा कै कमाई चली गै। बड़े रोवत रहे। अब पुलुस आइ गै है! देखौ का करत है? सुनित है नए दरोगा जौन आए हैं तौन बड़े-बड़े नामी जबर डाकू का पकड़ चुके हैं। मुला सहर मा भई चोरी कै कब्बौं पता नाहीं लाग। पुलुस मिलि जात है न!"

चोरी का बयान सुनते-सुनते मैं अपने कमरे में आ गया। कल्लू की दास्तानों का कभी अन्त नहीं होता। अपना श्रोता इस तरह हटता हुआ देखकर भी कल्लू नहीं चूका। उसने मेरे नौकर से तब तक बीड़ी की फ़रमाइश कर दी। बीड़ी पीने वाले बड़े उदार होते हैं। खुद भी पीते हैं और दूसरों को भी पिलाते हैं। शायद इस प्रकार के गुणवानों की 'बड़री अँखियान' को 'बढ़त देख निज गोत' बड़ा सुख मिलता होगा। बहरहाल, कल्लू के हाथ में बीड़ी आ गई। उधर चोरी का बयान सुनकर मेरी पत्नी की जिज्ञासा जाग्रत हो चुकी थी। कल्लू को दूसरा श्रोता मिला।

"बहू जी, कल संझा से घाटे पै बीता है। एक पियाली चा नहीं मिली। बाबू जी पी चुके होंय तौ सरकार..........."

बहू जी कपड़े सहेज कर रख रही थीं। इशारा पाकर नौकर ने एक गिलास चाय और दो बासी पराठे कल्लू के हाथ में ला रक्खे। कल्लू ने गिलास थामा और असीस देते हुए शुरू किया :—

"बनी रहौ सरकार!...अब बड़के भइया कै बियाह जल्दी से कै डारो। अपनी आँख के आगे देख के मग चाहित है सरकार!" हाथ में अख़बार लेकर मैं बाहर टहलने लगा। उसे पढ़ने का बहाना-सा करते हुए मैं कल्लू की ही बातें सुन रहा था। कल्लू के स्वरों में भावुकता आ रही थी—

"बहू जी! भइया के मूँड़न मा वादा कियौ रहै कि बियाहे मा हमका एक ठे सोने कै बाली बनवाय देहौ। हम तौ उहै आसरे जियत जात

हन।····कहूँ ठीक भवा ? बात तौ बहुत दिनन से चल रही है !"

अपने लड़के की शादी की बातें करने को बहू जी का मन भी सदा तैयार रहता है। बोलीं—

"हाँ, बात तो दो-तीन जगह से चल रही है ! एक तो यही बाबू बख़्तावर लाल के यहाँ से ही चल रही है ! तुम तो उनके घर काम करते हो ! कैसी है उनकी लड़की ?"

कल्लू लड़की-लड़के की ब्याह की ज़िम्मेदारी समझता हुआ कुछ स्वरों का उलट-फेर करके कहने लगा—

"हजूर बिटिया तौ सोना है। रूप सील गुन मा भइया से एक हाथ आगे रहे ! भइया से तौ अस जोड़ी मिले कि कहबो कि हाँ ! मुला रुपिया पैसा बख़्तावर लाला के पास न होए ! का करैं ? आज काल्हि बिना रुपिया पैसा कै तौ कोई बियाहौ नाहीं करत। तीन-तीन बिटिया हैं बेचरऊ के !"

बहू जी मेरे कपड़ों को उठाकर नौकर को ऊपर पहुँचाने के लिये देती हुई बोलीं—

"मुझे लड़की चाहिये। रुपये का कुछ नहीं। लड़का बेंच थोड़े ही रही हूँ।"

कल्लू बोला—

"फिर सरकार, देर न करौ। जेतनी जल्दी होइ जाय वतनै अच्छा। घोबिन अपने मन मा इहै आसरा लिहे चली गै कि भइया के बियाहे मा कँगना लेहै ! मुला भगवान कै मरजी ! वहिका ई दिन देखै का बदा न रहा। हमार घरै नसाय गवा। सब बोझ हमरे कंधा पै डारि के धोबिन तौ भगवान के नेरे पहुँचि गै।"

कल्लू की धोबिन का देहांत हुए पाँच छः साल हो गए थे, पर वह अब भी उसके बारे में जब भी बातें करता तो भावुक हो उठता था। मैं देख रहा था कि उसकी रतनारी आँखों में शीशे की तरह मोती के टुकड़े झलक पड़े। कल्लू ने अपनी पगड़ी की छोर से उसे पोंछ दिया। धोबिन

की याद मुझे भी थी। वह झगड़ा बहुत करती थी लेकिन कपड़े वक्त पर लाती थी। बहू जी ने उसे सांत्वना दी—

"जाने दो कल्लू! भगवान की मरजी में किसी का बस नहीं। तुम्हारे लिये कानों की बाली ज़रूर बन जायगी।"

कल्लू ने फिर असीसा। बुझी हुई बीड़ी को बाहर फेंकने के लिये उठ खड़ा हुआ। कोने से अपनी लठिया उठाई और बोलते हुए चल पड़ा—

"अच्छा बहू जी! काल्हि कपड़ा लैजाब। तैयार राख्यौ।"

बहू जी ने मेरी दो कमीज़ें और दो पतलून देते हुए कहा—

"ये लेते जाओ। परसों धुलाकर भेज देना या दे जाना। अफ़िस के कपड़े हैं।"

"अच्छा बहू।" कपड़े समेटकर कल्लू चला गया।

"परसों' के माने एक हफ्ते हैं यह मैं भी जानता हूँ और काल्लू भी। आये थे पाँच मिनट के लिये घाट पर कपड़े फैलाकर, गए तो दो घंटे बाद खा-पीकर अपने मन की मौज लेकर!

फलित ज्योतिष और वाहन-योग

बचपन के शौक़ का नतीजा अच्छा या बुरा हरेक को भोगना पड़ता है! मैं भी उसकी लपेट में आ गया। सो उसका बुरा नहीं मानता। बचपन से ही मुझे दो शौक़ थे—एक था हाथ दिखाने का शौक़ और दूसरा ढूँढ़ ढाँढ़ कर रद्दी से रद्दी पत्रिका में निकले हुए राशिफल को पढ़कर अपनी किस्मत आज़माने का शौक़! नतीजा यह हुआ कि मेरे भविष्य-द्रष्टा ने अत्यन्त कृपा करके यह बताया कि 'राजदरबार में मेरा सम्मान होगा' 'परिवार बढ़ेगा' 'पैसा आएगा लेकिन चला जायगा' और घर में सवारी रहेगी क्योंकि मेरे हाथ में 'वाहन-योग' स्पष्ट है।

'विद्यालाभ' के बारे में मेरे भविष्यद्रष्टा सिर्फ़ मुस्करा कर रह जाते थे। उनकी वह मुस्कान इस रूप में प्रतिफलित हुई कि मेरा विद्यार्जन हाई स्कूल तक दौड़कर चला गया, इंटर-मीडियेट लँगड़ाते पार हुआ, बी० ए० तो बिल्कुल सत्याग्रहियों की तरह धरना देकर फिर उसके बाद तो उसने चलने से बिल्कुल ही इन्कार कर दिया।

अब सवाल था 'राजदरबार में सम्मान' का। कई जगह अर्ज़ियाँ दीं लेकिन हर जगह दरबार में पता चला कि दरबार वाले हमारा सम्मान करने के लिये खाली नहीं हैं। आखिर एक बाँध के सरकारी दफ़्तर में, जो नया-नया खुला था, किसी तरह एक क्लर्क की जगह मिली। नब्बे रुपये माहवार

कुल मिला-जुलाकर आमदनी बनी, जो पहिली को मिलती और दूसरी को खुक्ख हो जाती। यानी 'राजदरबार में सम्मान भी मिला' और यह भी सच हुआ कि 'पैसा आएगा लेकिन चला जायगा। तनख़्वाह से बनी हुई अपनी औक़ात का ध्यान करके यह चाहा कि 'परिवार बढ़ेगा' वाली भविष्यवाणी गलत निकल जाय। लेकिन परिवार बढ़ा और धूम से बढ़ा। एक का हाथ पकड़, एक दो गोद में, तीसरे को श्रीमती जी की गोद में टँगा हुआ लेकर जब मैं सहसा किसी दिन बड़ी हिम्मत के साथ सिनेमाघर की खिड़की पर पहुँचता तो बढ़े हुए परिवार का एहसास उस तरह होता जैसे बोधिवृक्ष के नीचे ज्ञानालोक !! जब सब कुछ हो गया तो मैंने अपनी 'वाहनयोग' वाली रेखाओं को ज़रा ध्यान से देखना प्रारम्भ किया। आख़िर उसका भी नम्बर आ गया।

'पैसा आएगा लेकिन चला जायगा' वाली भविष्यवाणी फूलते देखकर मेरा विश्वास पैदली यात्रा में जमता जा रहा था और मन ही मन मैं यह जान गया था कि भविष्यद्रष्टा की इस अमरवाणी के फलते 'वाहनयोग' तो सुलभ होने वाला नहीं है ! मगर हाय री भविष्यवाणी ! जब अक्सर घर का खाना छुटने लगा, दफ़्तर में लेट होने पर हाज़िरी का रजिस्टर बड़े साहब के कमरे में पहुँचने लगा, और तीन चार बार बराबर पेट दर्द, वाइफ़ की बीमारी और कुछ भी बहाना न पाकर 'हीं हीं हीं हीं' कर चुका तो फिर ज़रा घबराहट का सिलसिला शुरू हुआ। सोचा कि अगर अब भी 'वाहन-योग' को सिद्ध न किया तो तत्काल 'राजसभा में अपमान', 'सम्पत्तिक्षय', 'परिवार में मानसिक क्लेश एवं अशांति', 'पाँवों में शनिश्चर एवं अकारण यात्रा' और 'अकाल मृत्यु' आदि सभी अघटित घटनाएँ घटने लगेंगी।

वाहन का जहाँ तक सवाल है, साइकिल जैसा अन्तर्राष्ट्रीय वाहन ज़रा मुश्किल से ही इस गतिशील युग में मिलेगा। खेत खलियान की मेड़ों से लेकर, डामर की पथरीली सीमेंटी सड़कों पर समान रूप से गतिमान दूसरा और कौन-सा वाहन है ? चाहिये तो इसी साइकिल पर दुनियाँ की सैर—'विश्वभ्रमण'—कर लीजिये, बशर्ते आपको दुनियाँ में और कोई काम-धंधा

न हो ! इस साइकिली-विश्व-भ्रमण से कई लाभ हैं । एक तो यह कि चलते फिरते सभी देशों के प्रधान मन्त्रियों के साथ खड़े होकर फ़ोटो खिंचवाने का अवसर सुलभ होता है और दूसरा यह कि अगर आप पूरा चक्कर खा ही गए तो साइकिल कम्पनी आपको मुफ़्त साइकिल दे देने को तैयार हो जायगी। मन में पहिले वही इरादे आते हैं जिनका पूरा होना मुश्किल रहता है ! उसी तरह यह भी इरादा आया कि साइकिल पर 'विश्व-भ्रमण' करके प्रधान मन्त्रियों की निगाह में चढ़ जाऊँ और लगे हाथ साइकिल भी फ़्री पा जाऊँ। सोचा विचारा भी काफ़ी । मगर फिर परिवार प्रेम उमगने लगा, तिरिया नें रोय-धोय बाँह गही, कलप कलप मरने की बात कही और सच कहूँ तो अपनी भी हिम्मत ने साफ़ जवाब दे दिया ! ऐसी उजबक योजना में मन रमता तो मैं काहे को 'मैं' रह जाता ! मुफ़्त साइकिल पाने और क़िस्मत सुधारने की योजना तो यूँ कट गई !

भड़काने में आकर जब आदमी भगवान को गाली दे बैठता है तो अगर मैंने नई साइकिल का दाम पूछ लिया तो क्या बुरा किया ? 'डेढ़ सौ से तीन सौ तक !' होश फाख़्ता होकर कार्निस पर जा बैठे । काहे को नौ मन तेल होगा और काहे को राधा उठकर नाचेंगी ?

मुसीबत के वक्त काम आने वाला आदमी ही दोस्त कहला सकता है ! सो मेरे एक दोस्त कहलाने वाले सज्जन (?) इस मुसीबत के वक्त काम आए। वह अपनी पुरानी साइकिल बेचना चाहते थे ! मुझे ज़रूरत है, यह जान कर वे मुझे बतलाने आए कि ऐसा सुनहरा मौका मैं किसी तरह अपने हाथ से न जाने दूँ ! सत्तर रुपये में भी वह दे देने के लिये तैयार थे । मैंने अपनी पास बुक का ध्यान किया जिसका सुहाग लुटने ही वाला था !

आख़िर पास बुक उनकी हो गई । साइकिल मेरी हो गई !!

पहिले ही दिन पता चला कि हवा कम है ! हवा भर कर चढ़ना चाहिये नहीं तो ट्यूब कट जायगा और टायर फट जायगा, ऐसा पास पड़ोस वालों

ने बताया था। हवा भरने वाले कल्लू मिस्त्री की दूकान पास ही थी। तजुरबे-कार आँखों से कल्लू मिस्त्री ने साइकिल देखते ही कहा—

"बाबू! इसमें तो बर्स्ट है!"

"अच्छा तो क्या हुआ? बर्स्ट है तो क्या है? खोलो, बनाओ! जरा जल्दी करो!"

उसने साइकिल खोली। पूरा ट्यूब जो निकला तो मेरा जी धक्क से रह गया। रबड़ पर काले रंग के इतने चिप्पख लगे हुए थे कि उसका असली रंग मिस्त्री भी आसानी से नहीं बता सकता था। हवा भर कर पानी के तसले में बुलबुले उड़ाते हुए जो उसने चिप्पख उखाड़ने शुरू किये तो एक उखाड़ा, दो उखाड़े, तीन उखाड़े और तब तक मैं अपना धैर्य खो बैठा—

"आखिर ट्यूब में कुछ पुराना भी रहने दोगे या उसे एकदम सत्या-नास ही कर डालोगे?"

मिस्त्री ने हाथ खींच लिया...

"ले जाइए बाबूजी, ऐसे ही ले जाइए। मुझे क्या करना है?" दूसरी साइकिल को अपनी तरफ खींचते हुए उसने कहा।

देखा, मिस्त्री ऐसे हाथ आने वाला नहीं है। जिस तरह सहालग के दिनों में कुम्हार, दर्जी, जूतेवाले, बाजेवाले नहीं खाली रहते हैं। उसी तरह गरमी के दिनों में पंक्चर बनानेवाले मिस्त्री भी खाली नहीं रहते, फिर भला जब वह मुझसे धमकाने वाली टोन में बात कर रहा था, तो मैं कर ही क्या सकता था। बिना दोस्ती के काम नहीं करेगा, सोचते हुए एक बीड़ीनुमा सिग्रेट उसकी तरफ बढ़ाकर बोला—

"अरे भइया! ठीक कर दो साइकिल! बुरा क्यों मानते हो? ज़्यादा पंक्चर बनाने बैठ गए तो मेरा दफ़्तर सफ्तर सब धरा रह जायगा, इसी से कहा था कि काम चलाऊ बना दो बस!!"

मिस्त्री ने समझाया कि गरमी में पुरानी साइकिलें परेशान करती ही हैं। विशेषज्ञ होने के नाते उसने सुझाव दिया कि साइकिल ठंडक में रखनी चाहिये ताकि हवा न निकले! मैं चकरा उठा कि साइकिल को कहीं 'रिफ्रीज-

रेटर' में रखना पड़ा तो पारिवारिक क्लेश, सम्पत्तिक्षय, आदि ग्रह फिर जाग्रत हो जायँगे। तब तक उसने बताया कि कहीं छाँह वाली जगह में साइकिल रक्खी जा सकती है। चढ़ने की नौबत न आई और साइकिल के रख-रखाव पर ज़्यादा ज़ोर देना शुरू हो गया।

घर भर में ठंडक वाला कमरा एक ही था जिसके सहारे घर वाले अपनी दोपहरी काटा करते थे! सुबह शाम वही कमरा बैठक का काम देता था और दिन दुपहर में वही आतपशरण-स्थली था। इस कमरे के तख्त, अलमारी, और दूसरे सामान हटा कर ऊपर पहुँचाए गए। नीचे के छोटे से कमरे में सिर्फ़ साइकिल ही रह सकती थी, इसलिये घर की बैठक ऊपर के कमरे में कर दी। साइकिल ठंडक में रहने लगी। मगर फिर भी वह हवा निकालने के बारे में काफ़ी उदार बनी रही।

हवा भर-भर कर साइकिल धीरे-धीरे चली और चलने लगी। उसकी संगीत-माधुरी से मेरे कान ऐसे भींग गए थे कि रेडियो संगीत मुझे फीका लगता था। उसका बनाव सजाव मुझे बरबस सादा जीवन और उच्च विचार रखने के लिये बाध्य करता था। उसकी गति ऐसी कि बिहारी का 'कुंजर-कुंज समीर' भी उसकी चाल की नकल न कर पाता! उसकी साम्यवादी गद्दी ऐसी कि जो सम्पर्क स्थापित करते ही अपने ही रंग में दूसरों को—यानी मेरे कपड़ों को रँगने की चेष्टा करती! प्रजातांत्रिक युग की प्रतिनिधि होने के कारण उसके ब्रेक पर अधिक नियंत्रण न हो पाया। उपयोगितावादी दृष्टि-कोण को बताने के लिये उसमें आगे लगी सिर्फ़ एक डलिया मात्र थी।

मगर होनी को क्या कहियेगा? साइकिल रोज़ जवाब देने पर तुली थी और मैं रोज़ जवाब तलब करने पर तुला बैठा था। मिस्त्री कल्लू की दोस्ती मुफ़्त में बैठे बैठाए गाढ़ी होती चली जा रही है। वह कभी अपने नालायक बेटे की दास्तान सुनाता, कभी अपने ससुराल वालों को गालियाँ देता, कभी साइ-किल के कारबार में घाटा होने की बात बताता, कभी शहर में लगे नये बाइस्कोप और उनमें होने वाली उछलकूद के बारे में अपना ज्ञान दिखाता, तो कभी यह

बताता कि पुरज़े जोड़-जोड़ कर उसने जो साइकिल अपने आप बनाई है वह अच्छी-अच्छी, 'बी० एस० ए०' और 'हरक्यूलीज़' गाड़ियों को दौड़ में पछाड़ सकती है। मैं सब कुछ गुटुर-गुटुर सुनता रहता और साइकिल के बर्स्ट या पंक्चर पर अपनी निगाहें गड़ाए रखता। कल्लू मिस्त्री उसे फ़ुर्सत से बनाते।

दफ्दर चलते वक्त रोज़ हवा ग़ायब होती देख कर, आख़िरकार हवा भरने वाला एक पम्प खरीदा जिसे साइकिल में फिट करवाया। गद्दी पर फूलदार कपड़ा चढ़वाया। पंक्चर बनवाते-बनवाते पता चला कि महीने में धन्नू ग्वाले को जितने पैसे देता हूँ उससे कुछ ज़्यादा ही कल्लू मिस्त्री की नज़र चढ़ा रहा हूँ। हार कर एक पुराना ट्यूब खरीदा। 'सुलेशन' एक शीशी मँगाई। फिर भी काम नहीं बना तो हार कर साइकिल के पीछे लटकाने वाला एक मिस्त्री-बैग ख़रीदा जिसमें वक्त ज़रूरत इस्तेमाल के लिये रिंच, बोल्टू, पेंचकस, पलास, तार, डिबरी तेल की कुप्पी—सारा भानमती का पिटारा रहता था।

कल्लू मिस्त्री ने कहानियाँ सुनाते-सुनाते मडगार्ड, छर्रें, चिमटे, पहिये, हैंडिल, चेन-सब कुछ बदल, डाला था। सिर्फ़ बेचारा फ्रेम ही पुराने मित्र की मित्रता की याद दिलाता था।

साइकिल के पीछे दिनचर्या बदल गई। भोर से ही उठ कर साइकिल का और मेरा तीन घन्टे का सत्संग चलता। कभी मैं पसीना पोंछ कर हवा भरता, कभी हाथों को मेहनतकश और श्रमजीवी होने का पाठ पढ़ाता हुआ बोल्टू कसता, चेन जोड़ता, तेल देता, कभी ब्रेक खींचता, कभी खटखट कभी उठा पटक—गरज़े कि सत्संग का समय पूरा हो जाता। सब कुछ किया मगर साइकिल की दोस्ती तो कल्लू मिस्त्री से ही थी। इसी को 'पूरब जनम का संग' कहते हैं। सो भला मेरे छुड़ाए क्या छूटता? अब कल्लू मिस्त्री मुझसे महीनेवार तनख्वाह पाने लग गए हैं। वे भी खुश हैं।

एक हमारे चचा हैं। अधपकी उम्र होने को आई लेकिन वह सारी दूरी पैदल ही नापने के आदी हैं। सुनते हैं कि वे 'हेल्थ' भी बनाते हैं और

'वेल्थ' भी बचाते हैं। उन्हें न तो सइकिल चलानी आती है और न आगे अब आने की उम्मीद ही है। बाज़ार से घर, घर से कचहरी, क़दम-क़दम उनका नापा हुआ है। 'पंक्चर' शब्द से भी वे शायद परिचित नहीं है। मशीन को राक्षसी करतब मानते हैं।

अब समझ में आ रहा है कि वे कितने सुखी होंगे !!

●

समस्या का उत्पादन

आये दिन उत्पादन की चर्चा सुनते हैं। हर अखबार, रेडियो समाचार, सरकारी विज्ञप्ति, नेताओं के भाषण यही दोहराते हैं कि अमुक चीज का उत्पादन बढ़ गया। आप चक्कर में रहते हैं कि किस चीज का उत्पादन कहाँ जा रहा है। आपको सिर्फ यही पता लगता है कि कृषि का उत्पादन, औद्योगिक-उत्पादन, ज्ञान-उत्पादन, संतान-उत्पादन यानी सब कुछ बढ़ता जा रहा है। लेकिन यह सब कुछ तो जनता करती है। चाहे जिस चीज का उत्पादन हो, वह सब जनता के ही मत्थे है। हाँ, सरकार के सहयोग से! लेकिन आपने कभी यह नहीं सोचा होगा कि भला नेता के कहने से तो पचास चीजों का उत्पादन बढ़ जाता है लेकिन स्वयं नेता क्या करते हैं? वे किस चीज का उत्पादन करते हैं, यदि आपके फरिश्ते भी पूरी हिम्मत के साथ जुट जायँ तो पता नहीं लगा सकते। वे किसी भौतिक वस्तु का उत्पादन ही नहीं करते जिसे आप इंद्रियों से जान सकें। उनका उत्पादन इंद्रियातीत होता है। वह आसानी से नहीं जाना जा सकता। वे समस्या का उत्पादन करते हैं।

समस्या का उत्पादन नेता के लिये संजीवनी बूटी है। जो नेता समस्या नहीं उगा पाता वह मर जाता है। उसकी नेतागिरी खत्म हो जाती है। उसे सब काहिल और बेकार समझने लगते हैं। जब जनता खर्राटा भर रही हो,

उस वक्त आकांक्षी नेता को चाहिये कि वह इतनी जोर से 'चोर-चोर' चिल्ला कर सड़क पर दौड़ने लग जाय कि भले-चंगे सोने वाले घबरा उठें और समझें कि उनका असली चौकीदार यही नेता है जो बात बेबात के भड़क उठता है और चिल्ला कर सड़क पर दौड़ने लगता है। जब सब तरफ लोग यह समझने-बूझने लग जायँ कि अब अख़बार पढ़ने में कोई मजा नहीं है, वह नीरस हो गया है तब योग्य नेता को एक ऐसा भयानक वक्तव्य देना चाहिये जिससे सहसा पता चले कि जनता के लाभ के लिये जो कुछ किया भी जा रहा है वह उसकी आँखों में धूल डाली जा रही है और दरअसल उससे सिवाय दो-चार आदमियों के और किसी का लाभ होने वाला नहीं है और जनता इसको पढ़ कर भड़क उठे। वह इस नेता का साथ दे। आंदोलन छिड़ जाय। हुड़दंग मच जाय। बीस पच्चीस लोग गिरफ्तार हो जायँ! 'व्यक्तिगत स्वतंत्रता', 'भाषण का अधिकार', 'अधिकारों का खंडन-मंडन' दस पाँच इने-गिने जुमले दोहराये जायँ और जनता मूर्ख बन कर उन्हें उन्हीं स्वरों में पुकारे जिस 'टोन' में नेता महाशय चाहते हों, तो बस समझ लीजिये नेता महोदय ने बड़े ही सफल ढंग से समस्या का उत्पादन कर लिया और उनका भविष्य उज्ज्वल है! उन्होंने समस्या खड़ी करके जनता के लिये मर जाने की कसमें खा-खा कर चाहे कुछ किया हो या न किया हो, लेकिन अपनी आकबत जरूर बना ली। समस्या पर चाहे किसी का ध्यान जाय या न जाय लेकिन उस नेता पर सब का ध्यान अवश्य पहुँचेगा।

इस तरह के समस्या उत्पादक नेताओं की कई किस्में हैं। कुछ तो ऐसे हैं जो बेचारे यही नहीं समझ पाते हैं कि समस्या अगर है भी तो वे क्या ग्रहण करें ताकि जनता उनको पूछने लगे। वास्तव में उनके अन्दर कुछ ईमानदारी बाकी रह जाती है। वे सोचने लगते हैं कि यदि वे फैसला देने वाले होते तो वे क्या करते। कुछ ऐसे होते हैं जो एक उठी-उठाई समस्या को लेकर नाचने लगते हैं। फ़र्ज कर लीजिये गन्ना-उत्पादकों की तरफ से किसी नेता ने एक समस्या का उत्पादन किया तो दूसरा आकांक्षी

नेता उस बात को लेकर या तो भूख हड़ताल कर देगा या विधान सभा में लेट जायगा। जनता का ध्यान वह भी अपनी तरफ खींचेगा।

लेकिन सब से बड़े समस्या उत्पादक नेता वे होते हैं जो कुछ नहीं होने पर भी समस्या खड़ी कर सकते हैं। बिना आँकड़े के हिसाब लगाने वाले इस तरह के अति प्रवीण नेता बहुत कम होते हैं। किसी भी बात पर जिसको लोग अपनी दिनचर्या का नियमित अंग समझने लग गये हों, उसमें से 'मैटर' निकाल कर चार पेज का एक वक्तव्य दे देना यह सबके बूते की बात नहीं होती। जैसे मान लीजिये किसी घर में अनाज पछोरने से उसमें काफी कंकड़ निकल आया। नेता को यह पता चल गया और वह उस वक्त किसी भी प्रकार की समस्या उत्पादन के लिये अत्यन्त परेशान है, तो वह चट से कंट्रोल की दूकान के आगे या यदि वह टूट चुकी हो तो उस जिले के पूर्ति विभाग के सामने भूख हड़ताल करने बैठ जायगा। राशनिंग की मोटर के सामने लेट जायगा और कंकड़ की शिकायत करते हुए वह सिर्फ़ वक्तव्य ही देकर चैन की साँस नहीं लेगा बल्कि वह पूर्ति मंत्री को तार देगा, एसेम्बली में इस पर प्रश्न करने या कराने की कोशिश करेगा। हो सका तो शहर में जब कभी भी कोई अधिकारी या मंत्री आया, उसे काले झंडे दिखलायेगा, शोर मचायेगा कि जनता के सूप में पछोरन क्यों निकलता है! नेता माँग करेगा कि इसका जवाब पूर्ति मंत्री, कृषि मंत्री, खाद्य मंत्री आदि सभी सम्मिलित रूप से दें और अगर इसमें से एक ने भी इस हुड़दंग का उत्तर विरोधी नेता को दे दिया और उनके शिष्टमंडल से भेंट कर ली तो बस सारे जवाब तो पीछे पड़ जायँगे और नेता महाशय का नगाड़ा सब से ऊँचा बजने लगेगा!

समस्या उत्पादन करने वाले नेता में सूझ की बड़ी जरूरत होती है। यदि मौके पर सूझ न आई तो फिर बाद में वह फिसड्डी नेता गिना जाता है। ऐसे ही एक नेता थे जो एक सभा समाप्त हो जाने के बाद सहसा यह समझ गये कि उन्हें इस सभा में अवश्य बोलना चाहिये था क्योंकि वहाँ जनता काफी दिखाई पड़ रही थी। संयोजक महोदय जब सभा के लगभग

समाप्त होते ही धन्यवाद देने को उठ खड़े हुए तो जनता उठने-सी लगी। एकाएक जिस नेता को यह होश आया था कि उन्हें भी बोलना चाहिये था, वे चिल्ला कर मंच पर पहुँच गये और चीखने लगे—

"धन्यवाद देने का काम मेरा था। आपसे किसने कहा था कि आप धन्यवाद दीजिये।"

सभा के संयोजक भी अड़ गये—

"वाह आप क्या धन्यवाद देंगे आप कहाँ से आ टपके?"

नेता लेकिन डट गये थे—

"मैं कहता हूँ कि कार्यक्रम के अनुसार धन्यवाद देना मेरा काम था। मैं जानता हूँ कि बेचारी जनता कितना दुख उठा कर, इस ठंड में यहाँ बैठी रही है। मैं ही धन्यवाद दे सकता हूँ। आप क्या कहेंगे?" उठती हुई जनता तमाशा देखने को ठहर सी गई।

"वाह जनता का असली दुख मैं पहचानता हूँ। मैं उसे धन्यवाद दूँगा। सभा मैंने बुलायी थी। मैं ही धन्यवाद दूँगा!"

"पार्टी क्या किसी के बाप की है? मैं क्या नहीं बोल सकता कि आप धन्यवाद भी नही देने दे सकते मुझको? यह भी नहीं देखा जाता।"

झगड़ा बढ़ता ही गया। अन्त में श्रोताओं में से ही एक आवाज उठी—'हम धन्यवाद नहीं चाहते! हम घर जाना चाहते हैं।'

और जनता उठ कर बिना धन्यवाद लिये चली गई। धन्यवाद तो नहीं हुआ लेकिन समस्यावादी नेता जो कुछ चाहते थे वह हो गया। दूसरे दिन अखबार में धन्यवाद की यह मनोरंजक घटना 'बॉक्स' में छापी गई! नेता की समस्या उग आई थी।

ऊँट की करवट

संसार का इतिहास पढ़ कर आप भले ही यह बात न जान पायें लेकिन इस देश का इतिहास पढ़ने से आपको यह ज़रूर पता चल जायगा कि अपने यहाँ नेता बनने के लिये या तो वकील होना या इंश्योरेंस एजेंट होना ज़रूरी है। इनमें से एक भी चीज जिसके पास हुई वह भविष्य की कल्पना करके बराबर उसी में झूलता-झूलता चल बसता है। सौभाग्य से, चूँकि अपने पंडित मंगल मूरत मारुति नंदन के पास इंश्योरेंस की एजन्टी थी इसलिये इन्होंने जैसे ही नेतागीरी का शौक़ फरमाया, वह लपकती-झपकती इनके गोद में आ बैठी। वह तमाम संघों के अध्यक्ष हो चुके थे और मानवता के मौलिक अधिकारों के लिये संघर्ष करने के लिये अब तत्पर थे।

नेता में एक चीज़ का होना बड़ा ज़रूरी है और वह मनोविज्ञान की जानकारी। किस वक्त, कैसे मौके पर किन आदमियों में, किन चीज़ों के कहने या करने पर क्या नतीजा होगा, इसकी पकड़ होना बड़ा ज़रूरी है। जिसे यह समझ में न आया कि अमुक आंदोलन छेड़ने से वह जनक्रांति आदि का तमाशा खड़ा करेगा या ठप्प होकर नेता के चमड़े के बैग में एक प्रस्ताव मात्र रह जायगा, वह कभी भी सफल नेता नहीं हो पाया। वैसे तो पं० मंगल मूरत मारुति नंदन मनोविज्ञान के नाम से भी शायद अपरिचित थे लेकिन इंश्योरेंस ऐजेंटी करते-करते यह कला उन्हें बड़े-बड़े मनोवैज्ञानिक

उपन्यासकारों से भी ज़्यादा अच्छे ढंग से आ गई थी। इश्योरेंस ऐजन्ट यह अच्छी तरह ताड़ लेता है कि कब उसका केस कम्पलीट होगा और कब उसका असामी भड़क सकता है या कब वह उसे टरका कर दूसरी कम्पनी की पालिसी ले सकता है। वह यह भी जानता है कि दूसरी कम्पनी में पालिसी लेने वाले असामी को किस तरह फोड़ कर अपनी कम्पनी में लाया जा सकता है। नेतागिरी के लिये भी यह सभी बातें उतनी ही ज़रूरी हैं जितनी बीमा एजेंटी के लिये!! इसीलिये मंगल मूरत मारुति नंदन अनुपम तेज़ी के साथ एक सफल नेता हो गये थे। उन्होंने जनता की नब्ज़ पहचान ली थी। जनता के सामने अनेक दलों ने रोटी-कपड़ा मकान, दूकान और सामान सबकी समस्या रक्खी थी किन्तु नामों के कारण मानव के व्यक्तित्व का विकास ही किस प्रकार कुंठित हुआ था और किस तरह पुरानी पीढ़ी ने आने वाली संतानों के नामों को विकृत करके उनकी प्रगति में या तो विराम चिह्न लगा दिया था या उनकी लाइन ही बदल दी थी, इस समस्या पर मंगल मूरत मारुति नंदन को छोड़कर आज तक किसी नेता ने नहीं सोचा था। व्यक्तिवादी अहंवाद के इस युग में बहुत से राम अंजोर, गुरप्रसाद, अजोध्यालाल, गुरदत्तदयाल, नारायणसिंह, इकबाल बख़्शसिंह और कमला देवी, सीता देबी सुर्जपुत्री बिमलाकुमारी जी—शचीन, अक्षय, अरुण, तरुण, वरुण और शेफालिका, नीहारिका, नीना, मीना होना चाहते थे किन्तु जो अपने माँ-बाप की इस गल्ती के कारण न हो सके थे, वे सब के सब अपना उचित नेता पा जाने के कारण नंदन जी के साथ हो गये थे। नाम बदलने का अधिकार वे मानवता का मौलिक अधिकार मानते थे और मौलिक अधिकारों की रक्षा होनी ही चाहिये थी। न सिर्फ़ पढ़े-लिखे अधकच्चरे लोग ही नंदन जी के साथ थे बल्कि स्थानीय रजक संघ और अन्य ऐसे कई संघ समाज उनके साथ थे जिनका अस्तित्व एक साइन बोर्ड मात्र था और किन्हीं-किन्हीं का एक छपा हुआ लेटरपैड भी मंगल मूरत मारुति नंदन जी के पास सुरक्षित रहता था जिस पर वे उस संघ की ओर से प्रेस के लिये वक्तव्य आदि भेजा करते थे।

मारुति नंदन जी की बढ़ती हुई नेतागिरी से दूसरी कम्पनी के मनसुख तिवारी को बड़ी तकलीफ़ हुई। उन्होंने एक ऐसा हथकंडा लगाया कि नंदन जी के पीछे एक बच्चेदार औरत छोड़ दी जो यह कहती फिरी कि बच्चा नंदन जी की कृपा है !!

मंगल मूरत मारुति नंदन इस वक्त मनसुख तिवारी के छोड़े हुए पुछल्ले से बहुत परेशान थे। यूं नेता के बीबी और बच्चा होना जुर्म नहीं है लेकिन जब वह औरत बच्चा उन पर मुफ़्त में लादे जा रहे थे, तब वे क्या करते ! मगर किस्मत की बात क्या कहिये। बहुत-सी चीज़ें जो गुत्थी बनकर आ खड़ी होती हैं, उन्हें परमात्मा अपने आप सुलझा देता है। तभी लोग एका-एक पलट कर आस्तिक हो जाते हैं !! हुआ ऐसा कि उसी शहर में एक पुलिस कप्तान तबादले पर आये जिनका नाम गणपति विघ्न विनाशन राव था। थे तो बेचारे पुलिस कप्तान मगर नाम के मारे बहुत परेशान थे और हमेशा अपने आप को जी० राव कहा करते थे। यहाँ आये तो जवान आदमी देख मंगल मूरत मारुति नंदन के मुँह में पानी आ गया और चटपट बीमे का हिसाब-किताब बैठाने के सिलसिले में .पुलिस कप्तान के बंगले पर जा पहुँचे।

बीमा तो नहीं पटा लेकिन नंदन जी के आंदोलन से पुलिस कप्तान बहुत प्रभावित हुए। गणपति विघ्नविनाशन राव कहते रहे—"नंदन जी अपने यहाँ तो नाम बदलने की परम्परा बहुत पुरानी है। जह्नु ऋषि के कारण गंगा का नाम जाह्नवी हो गया। मुर राक्षस को मारते ही भगावन कृष्ण, मुरारी हो गये। त्रिपुर का नाश करते ही महादेव त्रिपुरारी हो गये। पर हमने अब वह परम्परा छोड़ दी है। मैंने स्वयं जब्बर डाकू को गोली से मार डाला लेकिन कोई मुझे जब्बारि नहीं कहता। नाम बदलने की परम्परा तो हमें फिर से उठानी ही चाहिये।" नंदन जी हूँ-हूँ करते रहे और मौका देख कर मनसुख तिवारी के छोड़े हुये पुछल्ले का उन्होंने ज़िक्र किया। उन्होंने नंदन जी की परेशानी देख मनसुख तिवारी की हरकत को ठंडा करने का आश्वासन दिया। नंदन जी मनमारे चले आए।

उन्हें सहसा बातूनी कप्तान की बात पर यक़ीन न हुआ।

इसी बीच बिल्ली के भाग से छींका टूटा। एक स्थानीय एम०एल०ए० का जीप एक्सीडेंट हो गया और वे बेचारे चल बसे। नतीजा यह हुआ कि बाई इलेक्शन के लिये एक सीट खाली घोषित कर दी गई। सीट के खाली घोषित होते ही मंगल मूरत मारुति नंदन के साथी-संगियों ने नंदन जी से कहा कि अब वक्त आ गया है जब उन्हें मानवता के मौलिक अधिकारों के लिये चुनाव लड़ना ही चाहिये और किसी-न-किसी तरह से एसेम्बली में जाकर उन्हें इन बेचारों को इसका अधिकार दिलाना चाहिये कि वे अपना नाम बदल सकें। इम्तहान की तैयारी बहुत दिनों से करते रहने पर भी जब इम्तहान की तारीख नज़दीक आती है तो जिस तरह परीक्षार्थी को रात दिन सपने आने लगते हैं और बार-बार उसका मन भाग जाने के लिये या ड्राप कर जाने के लिये बहकाता हो उसी तरह नंदन जी को भी चुनाव सामने देख कर दाँतों पसीना आ गया। पहिले बहुत हिचके, झिझके, लोगों को समझाया लेकिन लोगों को चुनाव से अच्छा बेटिकट दूसरा तमाशा देखने को नहीं मिलता सो वह काहे को मानते। वे जिन सेठ के यहाँ एक बार मुडंन पर कविता ले गये थे वे इस अनोखी सूझ वाले नेता मंगल मूरत मारुति नंदन के इलेक्शन का सारा खर्च बर्दाशत करने को तैयार हो गये। मरता क्या न करता! नंदन जी उछलते दिल को दबाते हुए किसी तरह से इलेक्शन लड़ने को तैयार हो गये।

प्रभात फेरी और जलूस निकालने के लिये नंदन जी को नारों और कोरस गानों की ज़रूरत पड़ी। बिना इसके जनता किसी भी तरह से प्रभावित नहीं होती। मंगल मूरत जी अपने एक कविराज मित्र की सेवा में इस बार हीं-हीं करते हुए पहुँचे और अपनी विपत्ति सुनाई और सहायता की याचना की। वे कवि महोदय बड़े ही व्यापारी प्राणी थे! बालू से तेल निकाल लेते थे। कवि सम्मेलन वाले उनका नाम सुनकर थर्राते थे और प्रकाशकों की घिग्घी बँध जाती थी! पाई-पाई वसूल करने की कला उन्होंने

वसीयत में पाई थी ! पर कहते हैं कि कोई लाख व्यापारी कवि हो लेकिन कहीं-न-कहीं द्रवणशील होता ही है ! मंगल मूरत जी जब लौटे तो उनके हाथ में कई नारे थे···पहिला था···

(एक लीडर) कंठ-कंठ की यही पुकार
(इस पर जनता कहेगी) वापस दो मौलिक अधिकार !
(एक लीडर) माँग रहे हम क्या अधिकार ?
(इस पर जनता कहेगी) नाम बदलने दे सरकार !!
बीच-बीच में "इंकलाब जिन्दाबाद !"
(इसके बाद '···हमारा नारा' ···(लीडर पुकारता है।)
माँ-बाप नाम न रक्खें !! (जनता कहेगी)
इसके बाद····हमारी माँगें···(उच्च स्वर से एक लीडर)
नाम बदलने का अधिकार वापस हो !!
अन्त में फिर····माँग रहे हम क्या अधिकार ?
नाम बदलने दे सरकार !!
इसके बाद जनता गाना गाती चलेगी···
हम बदल नाम तुमको दिखा जायँगे
नाम रखना तुम्हें हम सिखा जायँगे।
अ न पूछो कि रख कर कहाँ जायगे
हम तो अपनी वसीयत लिखा जायँगे !!

नारे और गाने हाथ में लेते ही नंदन जी का जैसे खोया हुआ विश्वास वापस आ गया। उनको लगा कि आधी से ज्यादा सफलता उनकी अचकन की जेब में आ गई है। प्रभात फेरियाँ निकलने लगीं। जलूस चालू हो गये। चुनाव लड़ने वाली और जितनी भी पार्टियाँ थीं उन सब से भव्य जलूस रोज़ शाम को शहर में मारुति नंदन का दिखाई पड़ता था। जलूस में रोज़ बरोज़ तरह-तरह की चौकियाँ भी रहतीं जिनमें यह दिखाया जाता था कि ग़लत नाम रख देने से आदमी की उन्नति किस तरह नहीं हो पाती। जैसे एक चौकी में यह दिखाया गया था कि एक

आदमी जब पुराने नाम से नौकरी पाने जाता है तब वह नहीं लिया जाता लेकिन जब वह सिर्फ़ नाम बदल कर ही जाता है तब वह ऊँची नौकरी पर रख लिया जाता है। इस जलूस को देखने के लिये लोग हर शाम को उसी तरह इकट्ठा हो जाते जैसे रामदल देखने के लिये !

अब अपनी उम्मीदवारी का पर्चा दाखिल करने की बात आई। मंगल मूरत मारुति नंदन जब पर्चा भरने चले तो फिर वही सवाल आया ! अब क्या किया जाय ? यदि वे अपना कोई और दूसरा नाम लिखते हैं तो चुनाव अफ़सर काहे को मानेगा ? और यदि वे अपना यही नाम लिखे देते हैं तो वे जिस बात को उठा कर चल रहे हैं, वह मूल ही समाप्त हो जायगा। नंदन जी अपने में ईमानदार थे क्योंकि व्यक्तिवादी हमेशा अपने प्रति ईमानदारी में सजग रहता है चाहे दूसरों के प्रति न रहे। अब तो 'भई गति साँप छछून्दर की' ! तभी उनके संगियों ने फिर उनकी रक्षा की। उन्होंने नंदन जी को अपना यही ही नाम लिखने को कहा और तर्क यह दिया कि राजनीति की देवी ऐसी ही होती है जहाँ अक्सर सबसे पहिले वेदी पर उसी सिद्धान्त की बलि चढ़ानी पड़ती है जिसके लिये आप राजनीति में घुसना चाहते हैं। मगर असली राजनीतिज्ञ वही होता है जो अपने दाँव पेंच से अपने बलि किये हुए सिद्धान्तों को समय पाकर फिर जिला ले और जनता को चकाचौंध कर दे। वे समझ गये।

नंदन जी ने चुनाव लड़ने के लिये जो चिह्न स्वयं चुना वह ऊँट का था। ऊँट के चिह्न से सब बड़े प्रसन्न हुए। ऊँट तो प्रगति का चिह्न है। प्रगति भी ऐसी कि जिस रेगिस्तान में कोई न जा पाता हो वहाँ ऊँट जा सकता है। अर्थात् जहाँ किसी की भी गति न होगी वहाँ ऊँट की गति होगी। मंगल मूरत मारुति नंदन ने अपना नाम प्रचारित करना उचित नहीं समझा। जिस नाम को वे सदा के लिये मिटा देना चाहते थे यदि वही प्रचारित हो गया तो फिर उनका सारा आन्दोलन ही विफल हो जायगा। और यदि सफल भी हुआ तो उनका तो कोई लाभ होने से रहा। नेता नंदन जी इसके लिये कतई तैयार नहीं थे। इसीलिये

उन्हांने जनता से यही अपील की कि वे ऊँट छाप को वोट दें। सब प्रचारकों और एजेन्टों ने यही कहना शुरू कर दिया कि ऊँट छाप को वोट दो। ऊँट छाप ही तुम्हारा नाम बदलेगा। ऊँट छाप ही हमारा तुम्हारा भविष्य बनायेगा !!

चुनाव के दिन करीब आते जा रहे थे। मारुति नंदन बीमें का बैग अपने घर पर ही छोड़कर अब सबके यहाँ हाथ जोड़ कर जाते थे और मानवता का "मौलिक अधिकार उर्फ़ नामों में सुधार" नामक अपना छपा हुआ मैनीफ़ेस्टो देते थे। प्रभात फेरियों और संध्याजलूसों का कार्यक्रम पूर्ववत चलता रहा। और चाहे कुछ रहा हो या न रहा हो जनता को यह "आइडिया" बहुत पसन्द आया और कइयों ने लगभग यह तै कर लिया कि वे ऊँट छाप को ही वोट देंगे। शाम को जलूस में एक गाना और चालू हो गया जिसके मुखड़े के बोल थे···

ऊँट हमारा प्यारा प्यारा
सबसे अच्छा सबसे न्यारा। ऊँट० ॥

सब कुछ हो गया था और अब चुनाव होने में कुछ हफ़्ते बाकी रह गये थे कि सहसा एकदम अनभ्र वज्रपात हुआ। जाने किस कारण से उनका अपना चुनाव चिह्न ऊँट रद्द कर दिया गया और उसकी जगह पर उन्हें चिह्न दिया गया बरगद का पेड़। पता न चल पाया कि इसके पीछे क्या कारण था। कुछ लोग कहते रहे कि मनसुख तिवारी की करतूत है तो कुछ कहते थे कि इसमें दूसरी पार्टियों का हाथ है। बहरहाल चाहे किसी का हाथ रहा हो नंदन जी के तो हाथ-पाँव फूल गए। उनके पाँव के नीचे से धरती खिसिक गई और आँखों के सामने अँधेरा छा गया। हाथ के आये तोते फुर्र से उड़ गये ! सदमा गहरा हुआ। समझ में न आया कि क्या करें। अपील भी करने का सवाल न था। ऊँट इस करवट बैठेगा, किसी को इसका अँदेशा भी न था। जो कुछ बन पड़ा हला-भला किया गया। दौड़ दौड़ कर ऊँट समझने वाली जनता कोब रगद का पेड़ समझाया गया।

परन्तु...! परन्तु चुनाव का दिन आया। जनता काफ़ी उमड़ी और बहुतों ने ऊँट छाप के लिये वोट भी देना चाहा। मगर ऊँट छाप तो पहिले ही हट चुका था। नंदन जी का दम टूट चुका था और हिम्मत जवाब दे चुकी थी। नतीजा वही हुआ जो होना चाहिये था। चुनाव में हार हो गई। वोट की जब गिनाई शुरू हुई उसी वक्त नंदन जी घर की तरफ़ चल दिये। फिर भी उनके लेफ्टिनेंट लोग समझाते रहे यह पहला मौका है। यही क्या कम है कि जनता ने आपका साथ दिया। और जिस का साथ जनता दे, वही असली नेता है।" घर पहुँचते-पहुँचते ही एक पुलिस के सिपाही से भेंट हुई। नंदन जी उसे देख कर एक दम घबड़ा उठे। तब तक उसने इनके हाथ में एक लिफ़ाफा दिया जिसमें एक कागज़ था। कागज़ पर लिखा था—

"मैंने मनसुख तिवारी की भेजी हुई औरत से यह लिखवा लिया है कि उससे आपसे कोई मतलब नहीं है और बच्चे से भी आपका कोई वास्ता नहीं है। फ़िक्र न कीजिये कागज़ आकर ले जाइए।"

नीचे दस्तख़त थे पुलिस कप्तान गणपति विघ्नविनाशन राव के।

मंगल मूरत मारुति नंदन के मुरझाए चेहरे पर मुस्कान आ गई। हार के आँसू जैसे पुँछ गये। इसके बाद वे अगले दिन शाम को रजक-संघ की बैठक में रक्खे जाने वाले प्रस्तावों को देखने लगे। सुनते हैं इस घटना के बाद नंदन जी आस्तिक हो गये। और भजन कीर्तन में जी लगाने लगे। उनका कहना था कि संसार की सभी समस्याओं का समाधान उसी आनन्दकन्द घट-घट वासी अविनाशी परमसच्चिदानन्द के हाथों में है। आस्तिक होने के पीछे एक यह भी राज़ था कि उन्हें ऐसे भगवान के भक्त होने में बड़ा सुख मिला था जिनके एक नहीं सहस्र नाम थे और जिनके नाम समय-समय पर भक्तों द्वारा बदले गये थे।

दुभाषिये की करामात

जमाने के ऊँट ने जब से इण्टरनेशनल करवट बदली कि बस दुभाषियों की तो एकाएक धूम मच गई। पहले वक्तों में दिया लेकर ढूँढ़ने पर भी मुश्किल से कोई दुभाषिया मिलता था। लेकिन अब तो उनकी वह बरसाती पैदावार शुरू हुई है कि जिस भले मानुस को देखिये, वह दुभाषिया ही बनने को तैयार है! पलक मारते सारा संसार दुभाषिये की हरकतों से संत्रस्त हो उठा! दुभाषिये अब न हों तो यह समझना मुश्किल पड़ जाय कि भला दुनिया का काम कैसे चलेगा? यह जो आये दिन बात वे बात के झगड़े उठते रहते हैं, यह जो बड़े बड़े अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन और कान्फ्रेंसों में हवाई अड्डों पर धूम मचती है, यक़ीन कीजिए कि यह सब कुछ न होता अगर दुभाषियों का सोलह कलाओं से युक्त—पूर्ण अवतार इस पृथ्वी पर न हुआ होता। इन दुभाषियों के ही कारण आज जबान का क्षेत्र बढ़ गया है और हथियारों का दायरा घट गया है जो मसला पंद्रह साल पहले सिर्फ हथियारों की ही मदद माँगता था, आज उसे यह दुभाषिये अपने महत्वपूर्ण अस्तित्व से अपनी करामात से, सिर्फ लच्छेदार बातों में महीनों और कभी-कभी सालों तक ऐसा उलझाये पड़े रहते हैं कि न सिर्फ लोगों की गरमी ख़त्म हो जाती है बल्कि वे यह भूलने भी लग जाते हैं कि झगड़ा किस बात को लेकर था।

शायद आपको भी यह पता नहीं होगा कि दुभाषियों ने दुनिया के नक्शे को अपनी मर्जी के मुताबिक बनाने में परोक्ष से रूप कितनी सहायता की है। न सिर्फ उन्होंने बना बनाया नक्शा अक्षुण्ण रखने में ही अपूर्व शौर्य दिखाया बल्कि वे जैसा चाहते रहे दुनिया को वैसा ही समझाते बुझाते रहे। ब्रह्मा ने पाँच इन्द्रियाँ बनाईं तो आदमी को लगा कि अभी कमी है। इसलिए उसने यह दुभाषिया नामक छठीं इन्द्रिय को अपने लिए स्वयं बना लिया जो आदमी को पाँचों से इन्द्रियातीत ज्ञान देती है। हमारे लिये दुभाषिया मात्र एक जीव नहीं है। वह हमारा ज्ञान है, हमारी जानकारी है, हमारी छठवीं इन्द्रिय है। इसीलिए आपको दुभाषिये को ईश्वर का वह अंश समझना चाहिए कि वह जो कुछ कहे या बताये उसे मानने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं रह जाता।

आपके यहाँ कहा गया है कि जनता किसी परम तत्व को सीधी तरह से कभी ग्रहण नहीं करती। उसे वही सब सच्चितानन्द आनन्द कन्द की लीला समझाने के लिये—तरह-तरह की कथाएँ गढ़नी पड़ीं।! कृष्ण और अर्जुन की कथा साथ में न लगी रहती तो भला गीता या महाभारत कौन आसानी से सुनने बैठता। रामायण ही कौन सुनता यदि उसमें किस्सा भी साथ न मिलता? इसीलिये दुभाषिये की परम लीला—वर्णन करने के लिये एक गाथा सुनाऊँगा। ताकि आपके पास यदि विश्वास नाम की चीज़ अब भी हो तो मैं उसे जमा डालूँ!

एक बार की बात है कि एक देश से दूसरे देश जाने के लिये दो सांस्कृतिक मण्डलों का निर्माण किया गया। इनमें से एक शिष्ट-मण्डल डाक्टरों का था, जो उस देश में आकर स्वास्थ्य सम्बन्धी देश का ज्ञान प्राप्त करता और दूसरा दल बना कलाकारों का जो वहाँ की सांस्कृतिक गतिविधि का अंदाज लगाने के लिए छोड़ा जा रहा था। मगर होनी को क्या कहिए? एक मामूली क्लर्क की गलती से सारा नक्शा कुछ ऐसा पलटा कि जब यह दोनों दल उस देश के हवाई अड्डे पर जाकर उतरे तो स्वास्थ-शिष्ट-मण्डल को तो उस देश के तमाम नृत्य केन्द्रों, रंगमञ्चों, सांस्कृतिक

पीठों, चित्र प्रदर्शिनियों में जाना पड़ा और साहित्यकारों और कलाकारों से भेंट करना पड़ा और उधर कलाकारों के शिष्ट-मण्डल को उस देश के नर्सिङ्ग होम, क्लीनिक कुष्ठरोग निवारण केन्द्र, तपेदिक सेनीटोरियम, मेडिकल कालेज आदि में जबर्दस्ती घूमना पड़ा।

दूसरे देशों में, चूँकि आये दिन शिष्ट-मण्डल आते-जाते हैं और उनके सब सवाल-जवाब नपे-तुले रहते हैं, इसलिए जब डाक्टरों के सम्मान में वहाँ के कलाकारों ने एक प्रीतिभोज दिया तो डाक्टरों ने इनकी विकसित कला के लिये बधाइयाँ दीं। सम्मान प्रकट किया। डाक्टरों को कलाकारों से मिलने जाते देख साथी सांस्कृतिक-मण्डल ने अपने सभी सवाल डाक्टरों को ही रटा दिये थे। डाक्टरों ने बड़ी आसानी से उन सवालों को दुहराया। मगर इस सब के लिए उन्हें दुभाषियों की जरूरत पड़ी। उस देश की सरकार दुभाषियों का महत्व भली भाँति समझती है। उनको खास तरह की ट्रेनिंग देती है। इसीलिये सभी दुभाषिये वहाँ सरकारी कर्मचारी हैं। बातचीत के दौरान में उन दुभाषियों के अतिरिक्त दूसरे दुभाषियों की वहाँ पैठ नहीं। बाहर से आया हुआ कोई भी सांस्कृतिक या शिष्ट-मण्डल बिना इन दुभाषियों के गूँगा और बहरा ही रहता।

डाक्टरों ने कलाकारों से हँस-हँस कर पूछना शुरू किया—

'आप के यहाँ कलाकारों, साहित्यकारों को क्या अपने मन माफ़िक, आज़ादी से काम करने की छूट रहती है? आपके देश की सरकार उसमें कोई बाधा तो नहीं डालती?'

दुभाषिये ने एक क्षण में सवाल समझ लिया। ऐसे सवाल न जाने कितनी बार वह बाहर से आये हुए लोगों से सुन चुका था। इसी दिन के लिये वह दुभाषिया सरकारी नौकर होकर जीता था। राजनीति का सारा सूत्र उसके हाथ में था और उसकी गर्दन सरकार के हाथ में थी। वह जो चाहता वही करता। और सरकार उसकी गर्दन के साथ जो कुछ चाहती वही करती। उसने तत्काल फर्ज समझ कर अपने देश के कलाकारों साहित्यकारों से कहा—

'पूछ रहे हैं कि आपको आपकी सरकार कुछ सरकारी खर्च देती है ? वज़ीफ़ा मिलता है ? और पूछ रहे हैं कि आप लोग अपने नेताओं के बारे में कुछ लिखते-पढ़ते हैं या नहीं ?'

वहाँ के कलाकारों ने कहा—'सरकार हमें इतना वज़ीफ़ा देती है और हम उसकी प्रशस्ति में अमुक चीज़ें लिखते या करते हैं।

दुभाषिये ने उत्तर देते हुए कहा—

'कहते हैं कि हमें हर तरह की छूट है। हम जो चाहें लिखें, जो चाहें पढ़ें। बाहर वाले यह वृथा शोर मचाते हैं कि हमें लिखने पढ़ने या अपनी बात कहने की पूरी छूट नहीं है। सरकार तो कभी भी बाधा नहीं देती। यह बात ही आपको नहीं सोचनी चाहिए।'

डाक्टरों को सिर्फ़ इतना दिखाई पड़ा कि वहाँ के कलाकार उत्तर देने के बाद प्रसन्न थे और उनके मुख पर सन्तोष की छाया थी। डाक्टरों ने दुभाषिये द्वारा प्राप्त उत्तर और उनके मुख का भाव नोट कर लिया।

डाक्टरों ने फिर पूछा—

'आपके यहाँ स्वतन्त्र कलाकारों को पेट भर खाने को मिल जाता है?'

दुभाषिये ने समझाया—

'पूछ रहे हैं आपको अपनी सरकार में विश्वास है न ? आप देश के प्रति वफ़ादार हैं कि नहीं ?'

कलाकारों ने सर हिलाते हुए कहा—

'हाँ-हाँ क्यों नहीं !'

डाक्टर ने सब का एक साथ 'हाँ-हाँ' की ध्वनि से सिर हिलाना नोट कर लिया। तब तक दुभाषिये ने भी समझा दिया—

'कह रहे हैं कि हाँ-हाँ क्यों नहीं ?'

डाक्टरों का दल इसी तरह के प्रश्न पूछता गया। दुभाषिया उनको अपने ढंग से समझाता गया। वे उत्तर देते रहे और दुभाषिया दोहराता रहा।

उधर सांस्कृतिक शिष्ट-मण्डल अस्पतालों, मेडिकल कॉलेजों और

नर्सिंग होम के चक्कर काट रहा था। रोगियों को देख-देख कलाकारों के कोमल-कोमल मन कातर हुए जा रहे थे। मगर कोई चारा न था। देखना तो उन्हें था ही। डाक्टरों ने कलाकार-मण्डल को भी कई सवाल सिखा दिए थे ताकि वे देश का नाम न डुबोयें।

एक रोगी से सवाल पूछे गये—

"इस अस्पताल में कितने रोगी रह सकते हैं ?"

दुभाषिये ने रोगी को बताया—

"ये जानना चाहते हैं कि तुम्हारा किस चीज़ का आपरेशन हुआ है ?"

रोगी ने कहा—

"हाथ के फोड़े का।"

दुभाषिये ने जवाब दोहराया—

"दो सौ तीस।"

सवाल पूछा गया—

"यहाँ तुम्हें खाने को क्या मिलता है ?"

दुभाषिये ने पूछा—

"कितने दिन से छुट्टी पर हो ? कहाँ काम करते हो ?"

रोगी ने दुभाषिये से कहा—

"चालीस दिन से छुट्टी पर हूँ। काम सार्वजनिक निर्माण विभाग में कर रहा हूँ।"

दुभाषिये ने शिष्ट-मण्डल से अर्ज़ किया—

"कहता है कि अंगूर, फल, अण्डे, दूध, पनीर, डबलरोटी और—सभी दवाइयाँ मुफ्त मिलती हैं। कोई मर कर अस्पताल से आज तक नहीं गया।"

दुभाषिया जवाब बताता गया। शिष्ट-मण्डल ने अपने-अपने सवालों के जवाब तैयार कर लिये।

जब दोनों शिष्ट-मण्डल अपने देश वापस लौटे तो सांस्कृतिक दल के सदस्यों ने अख़बारों में बड़े-बड़े लेख लिखे जिसमें उन्होंने बताया कि

अमुक देश में कलाकारों को मन के माफ़िक लिखने की पूरी छूट है; उन्हें सोचने की भी पूरी छूट है। सरकार उनके काम में कतई नहीं बाधा डालती। वहाँ के कलाकारों का खुद कहना है कि बाहर अकारण ही ऐसा शोर मचाया जाता है। यह सब वाहियात है। हमने उनसे पूछा कि स्वतन्त्र कलाकारों को क्या पेट भर भोजन मिल जाता है। उसके उत्तर में वे हाँ-हाँ करके मुस्करा उठे। उनके मुख पर प्रसन्नता और सन्तोष की स्पष्ट छाप थी। जब वे उत्तर दे रहे थे तब उनके चेहरे खिले हुए थे।

इधर डाक्टरों ने अपनी रिपोर्ट दी—

'हमने तो वहाँ के मामूली अस्पतालों को भी जाकर देखा। उसमें भी दो सौ तीस रोगी एक साथ रक्खे जा सकते हैं। बड़े शर्म की बात है कि अपने देश में एक भी ऐसा अस्पताल नहीं है। वहाँ की समृद्धि का क्या कहना? वहाँ की सफाई का क्या कहना? रोगियों की जैसी देखभाल उस देश में होती है, वैसी हम सौ जन्म में भी अपने देश में नहीं कर सकते! वहाँ के रोगी अंगूर, फल, अण्डे, दूध, पनीर, डबलरोटी, मक्खन सभी कुछ खाने को पाते हैं। उन्हें सारी दवाइयाँ मुफ्त दी जाती हैं। इसलिए उनके अस्पताल से मर कर कोई नहीं जाता है! जब तक हमारे देश की सरकार उस नमूने का अनुसरण नहीं करती तब तक देश का कल्याण होना बड़ा कठिन है।'

अब आपका मन चाहे तो इस सबको गप मान लीजिए। आप न मानिए—लेकिन इतना तो आप मानेंगे ही कि अगर दुभाषिये हटा दिये जायें तो दुनिया के कितने नक्शों पर से परदा हट जाय! यह परदा बना रहे, इसी के लिये ये बेचारे काम कर रहे हैं। इसीलिए हम दुभाषिये को उस परम लीलामय का अंश मानते हैं जो जब जैसा चाहे, तैसा खेल रच कर तैयार कर दे।

एक ईसपनुमा कहानी

एक जंगल था। जंगल में एक राजा था। राजा का नाम था शेर। राजा दोनों वक्त भोजन पाकर अपने महल यानी माँद में पड़ा रहता था। जानवरों से उसे ख़ास सरोकार न रहता था। जंगल के पास ही एक कस्बा था। कस्बे के लोगों को देख-देख कर जानवरों की यह समझ में आया कि वे सब जंगली हैं और जंगली होना आजकल की सभ्य दुनियाँ में ठीक नहीं है। कस्बे की रंगीनी और चुहलबाजी को देखकर उनके मन में बड़ी उमंग उठती मगर जैसे ही वे जंगल में पहुँचते उनका जानवरपन जोर कर बैठता। फिर तो वह उठा-पटक मचती, फ्री स्टाइल की कुश्तियाँ होतीं, तू तू मैं मैं और वाक आउट होते कि बिल्कुल गृहयुद्ध का सा समाँ बँध जाता।

आखिरकार उन्होंने अपना झगड़ा शान्तिपूर्वक ढंग से सुलझाने के लिये एक अखिल जंगलीय-सम्मेलन किया। सम्मेलन में ऊँट, बैल, गाय, भालू सभी ने अपनी-अपनी भाषा में भाषण दिया और फिर उनका अनुवाद करके उपस्थित सदस्यों को बताया गया कि कि वे कहना क्या चाहते हैं। असली समस्या को शृगाल देव ने उठाया।

शृगाल देव अपने पर्यटन से लौटे ही थे। उन्होंने आवेशपूर्ण भाषण में कहा—

"यदि हम अपनी रचनात्मक शक्तियों को इसी प्रकार लड़ झगड़ कर समाप्त करते रहेंगे तो निश्चित ही हम इस वन का पुन: निर्माण नहीं कर सकते हैं !!"

भालूराज अभी-अभी शहद का एक प्याला पीकर आये थे। उनके भाषण में उसकी मिठास अभी भी बाकी थी। दो पैरों पर खड़े होकर, अपने एक हाथ को नचाते हुए उन्होंने समझाया—

"हम में अनुशासन की बड़ी कमी है। बिना अनुशासन के हम विकास नहीं कर सकते। हमें अब किसी का भय नहीं रह गया है। यही हमारे पतन का मूल कारण है !"

आचार्य सुजान कागदेव अब तक चुपचाप बैठे थे अबकी बार उनकी गर्दन घूमी। कुछ तेज लहजे में बोले—

"हिज़ एक्सीलेंसी सिंहराज के हमारे बीच होते हुये यह कहना कि हममें किसी का भय नहीं रह गया है, उनका अपमान करना है। हमारे विधान में एक ही राजा है वही सबका नियामक है !"

सिंहराज सभा में नहीं आये थे। फिर भी वहाँ सन्नाटा छा गया। बोलती बन्द हो गई।

तभी आधे पेट के ब्लाउज और महीन रेशमी धोती में लिपटी श्रीमती लोमड़ी देवी माइक्रोफोन के सम्मुख आ खड़ी हुई ! वे अभी-अभी विश्वभ्रमण करके लौटी थीं। आँचल के पल्ले को कंधे से पीछे फेंक कर कलाई घड़ी में टाइम देख कर उन्होंने बोलना शुरू किया—

"बंधुजनो ! आप चिंतित न हों ! भाई श्रृगाल देव, भाई भालुराज, तथा सुजानाचार्य श्री कागदेव ने जो कुछ कहा है वह सब अपने में ठीक है। हम सबके मन में अपने विधान और हिज़ एक्सीलेंसी के प्रति पूर्ण सम्मान है। हम उनका कतई निरादर नहीं करना चाहते। किन्तु इससे भी इनकार नहीं किया जा सकता कि हममें अनुशासन की भावना नहीं रह गई है। बिना अनुशासन के आप लोग—हम सभी लोग—पिछड़ जायेंगे।

मैंने अभी अपने विश्व भ्रमण में देखा है कि आदमियों ने अपने को ठीक ढंग से चलाने के लिये, हंगामा रोकने के लिये, अनुशासन के लिये—कहना चाहिए सहूलियत के लिए, अफ़सर नामक एक चीज़ की ईजाद की है। हमारे हिज़ एक्सीलेंसी बहुत व्यस्त जीव हैं। वे सभी काम एक साथ नहीं देख सकते। इसलिये इस चीज को हम अपने विकास-क्रम को ध्यान में रखते हुये ले सकते हैं। अफसर हिज़ एक्सीलेंसी का प्रतिद्वन्द्वी न होगा। यह तो एक ऐसी अद्वितीय चीज है जो हम सब पर पूरी तरह अनुशासन रखता हुआ हिज़ एक्सीलेंसी के सामने दुम हिला कर अपनी सेवा सदा अर्पित करता रहेगा। इसीलिये सिंहराज के लिये यह चिंता का विषय नहीं वरन् हर्ष का है।"

सभा में फिर जबरदस्त हंगामा मचा। अब तक जंगल वालों ने इस चीज का नाम भी नहीं सुना था। श्रीमती लोमड़ी देवी के विश्व भ्रमण से उन्हें जो लाभ होने जा रहा था, वह प्रत्यक्ष था। सबके मन में एक आशा कौंधने लगी कि वे अफसर बना दिये जायें। सहसा शृगाल देव ने उठकर प्रश्न किया—

"हममें से कौन इस कार्य के लिये चुना जायेगा?"

फिर सकते का आलम छा गया। श्रीमती लोमड़ी देवी ने खाँस कर कहा—

"इसके लिये कई गुणों की आवश्यकता मानी गई है।

सभा में से एक आवाज़—

"कौन से गुण चाहिए?"

"सुनिये बता रही हूँ। पहला गुण तो यह कि वह सामने की चीजों को देख कर अनदेखा कर दे! दूसरी बात कि वह कम बोले! तीसरी वह सबसे अलग रहे! चौथे-वह कभी न मुस्कुराये!!....अब इन चारों गुणों में जो पूरा उतरता हो वह सामने आये।" लोमड़ी देवी ने कुछ मीठी अदा के साथ यह वाक्य पूरा किया!

गुणों की चर्चा सुनते ही शृगाल देव मौन हो गये। कम बोलना वे जानते ही न थे। आचार्य सुजान कागदेव चीजों को देख कर अनदेखा नहीं कर पाते थे। भालुराज को न अलग रहना आता था और न आँखें चुराना! कोई नाम प्रस्तावित नहीं हुआ। एक दूसरे प्रस्ताव द्वारा यह तै हुआ कि जंगल के कुछ प्रतिनिधि एक अफ़सर की तलाश करें और उसकी नियुक्ति करें। अस्तु!

जानवरों का प्रतिनिधि दल अफ़सर खोजने निकला। खोजते-खोजते एक खण्डहर में उन्हें एक पक्षी बैठा दिखाई पड़ा। उसका मुँह खूब फूला हुआ था। चेहरे पर किसी भाव या अनुभाव के उठने की भी कोई गुंजाइश न थी—मुस्कुराना तो दर किनार!! पास जा कर सबने सलाम किया मगर उसने देख कर भी अनदेखा कर दिया। भालूराज ने धीरे से कहा—"काफी अकड़ू है! ट्राई करना चाहिए।"

श्रीमती लोमड़ी देवी ने आगे लपक कर कहा—

'श्रीमान! हम तमुकवन के रहने वाले हैं। हमारे ऊपर अनुशासन रखने के लिए हमें एक अफ़सर की तलाश है। आपको उचित पात्र समझ कर हम यह अधिकार आपको समर्पित करना चाहते हैं।

पक्षी ने बिना गर्दन हिलाये एक ध्वनि की—

'घुर्र्र!'

सबने समझ लिया कि उसे स्वीकार है। लोमड़ी देवी ने फिर पूछा—

'आपका शुभ नाम?'

पक्षी ने बहुत गम्भीर किन्तु संजीदा आवाज़ में कहा—

'मेरे बाप ने तो मेरा नाम बहुत उम्मीद के साथ खण्डहर उद्दीन खाँ रक्खा था मगर······

'मगर क्या?' शृगाल देव ने पूछा।

'मगर इस जंगल के लोग मुझे उल्लू कहते हैं। कुछ जो जरा समझ-दार हैं वे मुझे खूसट कहते हैं। मगर जो बदतमीज़ हैं वे मुझे चुग़द कहते

हैं। ख़ैरऽ इस युग में हर बात पर मतभेद होते हैं।" साँस खींच कर वह चुप हो गया!

उसका कम बोलना, देखकर अनदेखा करना, सबसे अलग रहना और काठ जैसा भावरहित चेहरा देखकर सबने एक स्वर से कहा—

'प्रभु !! आप हमारे सर्वगुण-सम्पन्न-अफ़सर मान लिये गये।'

सही बटे का चक्कर

मेरे घर के ठीक सामने है बाबू कार्तिकचन्द्र चटर्जी का मकान। चटर्जी महाशय शायद यहीं के एकाउन्टेंट जनरल के दफ़्तर में काम करते हैं। मैं आज तीन साल से इस मकान में रह रहा हूँ लेकिन मेरा और चटर्जी बाबू का कभी परिचय नहीं हो पाया। दरवाजे पर लगे उनके साइनबोर्ड से मैं उनका नाम भर जान पाया हूँ और एकाउन्टेंट जनरल के दफ़्तर की बात तो अंदाज़न कह रहा हूँ। सुबह चाय पीकर जब तक मैं बाहर झाँकता हूँ तो उन्हें साइकिल के डण्डे से चिपका कर अपना छाता बाँधते हुए पाता हूँ। उसके बाद वे अपने पैजामे के दोनों पाँयचों पर गोल क्लिप लगाते हैं फिर साइकिल को चौराहे की ओर उन्मुख कर चल देते हैं। शाम को सात बजे के आस-पास वे लौटते हैं। आठ बजे वे अपने तीनों लड़कों और दोनों लड़कियों को बाहर के बरामदे में एक चारपाई पर बिठा कर हिसाब, अँग्रेजी और जुगराफ़िया पढ़ाते हैं। अक्सर मेरे कानों में यही तीनों चीजें उलट-पुलट कर अपनी भनक दे जाती हैं!

यूँ तो शायद जिन्दगी भर मैं कभी बाबू कार्तिकचन्द्र चटर्जी (साइन-बोर्ड पर यही नाम दिखता है!) की खोज-ख़बर न लेता मगर एक दिन जब मैं दोस्तों की हा-हा-ही-ही की महफिल छोड़ कर नौ बजे रात को घर पहुँचा तो पत्नी महोदया का पारा चढ़ा दीखा। मेरी दोस्तबाजी से उन्हें

विशेष प्रेम नहीं है और उसके लिये वक्त-बे-वक्त जली कटी सुन लेना और सुन कर निकाल देना मेरे लिये अब बाँयें कान का खेल बन गया है। आज श्रीमती जी ने मेरे एक बच्चे के इम्तहानी नतीजे को घोषित करते हुए बताया कि वह हिसाब में फेल हो गया है और अगर सालाना इम्तहान में भी फेल हो गया तो उसका एक साल बरबाद जायगा। बच्चों का, उसमें भी छोटे बच्चों का, फेल हो जाना, मैं कोई बड़ा अहम मसला नहीं समझता! मगर जब मेरी श्रीमती ने यह बताया कि सामने के बंगाली बाबू अपने लड़कों को चूँकि रोज़ पढ़ाते हैं इसलिये वे पास हो गये और मैं अपने बच्चों को कभी नहीं पढ़ाता इसलिये वे फेल हो गये, तब मुझे मजबूरन बंगाली बाबू उर्फ़ कार्तिकचन्द्र चटर्जी की नोटिस लेनी पड़ी। मेरी पत्नी ने इस बहाने मुझे बताया कि मेरे दोस्त किस तरह से मुझे बिगाड़ रहे हैं और मैं परिवार के प्रति अपनी ज़िम्मेदारी भूलता जा रहा हूँ। गरज़े कि उन्होंने इतना समझाया कि मुझे बाबा तुलसीदास और उनकी पत्नी की याद आने लगी। मैंने निश्चय कर लिया कि मैं भी अपने लड़कों को खुद पढ़ाऊँगा और 'बाबू कार्तिकचन्द्र चटर्जी' को यह दिखा दूँगा कि वे ही नहीं, चाहूँ तो मैं भी अपने बच्चों को पढ़ा सकता हूँ!

दूसरे दिन शाम को मैं आफ़िस से सीधे घर आया। बच्चों को तैयार रहने के लिये कह गया था। आते ही मैंने भी अपने बरामदे में एक खाट डलवाई अपने दोनों बच्चों को उस पर बिठाया। सामने एक कुर्सी डाल कर खुद बैठा, लड़कों से कहा—

"निकालो अपनी अर्थमेटिक की किताब।"

बच्चे ने अर्थमेटिक की किताब बस्ते से निकाल कर मुझे दे दी। फिर एक स्थान पर एक सवाल दिखाता हुआ बोला—

"पापा जी, ज़रा यह सवाल बताइये।"

सवाल मैं पढ़ गया। सवाल वाला किसी हौज़ का वर्णन कर रहा था जो निहायत रद्दी हौज़ था जिसमें न कमल फूले थे, न उसके पास किसी

कुंज निकुंज का या किसी फ़ौव्वारे आदि का ज़िक्र था। हौज़ की बस लम्बाई-चौड़ाई दर्ज थी। यह भी कि उसमें इतने घनफुट पानी भरा जाता है। सवाल वाले ने बताया था कि उस हौज़ में तीन पाइप भी लगे हुये हैं। एक पाइप इतनी देर में इतने घनफुट भरता है और दो पाइप इतनी देर में इतने घनफ़ुट खाली कर देते हैं तो सवाल वाला यह जानना चाहता था कि आखिर वह हौज़ कितनी देर में भरेगा ?

मैंने सवाल फिर से पढ़ा। मेरा दिमाग़ अलग भाग रहा था। सवाल वाला कहीं मिलता तो मैं पूछता कि अरे भलेमानुस जब पाइप लगाना, न लगाना तेरे ही हाथ में था तो भला तुझे ऐसा भी क्या आनंद मिला कि एक पाइप तो भरने के लिये लगा दिया और दो पाइप उसे खाली करने के लिये जड़ दिया। यह तो राष्ट्रीय सम्पत्ति का क्षय है! भला कितनी मेहनत से जलकल विभाग पानी देता है कि हौज़ भरिये और आप हैं कि दो पाइप लगा कर उसे खाली भी करते जा रहे हैं! आखिर इतने बड़े हौज़ का सही-बटा सब तैयार करके फिर उसमें दो पाइप भी जोड़कर आपको सिवाय मासूम बच्चों की हैरानी के और क्या मिला ? ज़ाहिर था कि सवाल वाला मेरा सवाल सुन कर निरुत्तर हो जाता !!

बच्चों से मैंने कहा—

"इस सवाल को जाने दो, कोई और पूछो !"

बच्चे ने दूसरे सवाल पर उँगली रक्खी—

यह सवाल क्या था, पूरी कहानी थी। पढ़ना शुरू किया। किसी किले के बारे में सवाल वाला कह रहा था कि उसमें इतने सिपाही हैं, जिनकी रसद इतने दिनों के लिये है, उसमें इतने सिपाही इतने दिनों में मर खप जाते हैं तब तक बाहर से इतने सिपाही और कुमुक आ जाती है तो बताओ कि किले में कितने दिन तक खाना चलेगा और सिपाही लड़ते रहेंगे ?

सवाल तो वाजिब ही था मगर सवाल वाले ने शायद "डीनवीन फू" का किस्सा अखबारों में पढ़ा नहीं! जो मिडिलची-दिमाग़, घोंटू मिजाज़

इस सवाल को पलक झँपते हल कर के पचासों बार दिखा चुके होंगे, उन्हें अगर उस जनरल के पास भेज भी दिया जाता तो भी वे शायद ही उसे "डीन बीन फू" पर सफ़ेद झण्डा लहराने और किला फू होने से बचा सकते ! मैं सोच रहा था कि फिर ऐसे सावल का फ़ायदा ही क्या ? अगर मैं अपना दिमाग़ खरोंच-खरोंच कर किसी तरह इन बच्चों के दिमाग़ में यह किला-मार्का सवाल घुसेड़ भी पाया तो भी ये जिन्दगी में सिवाय किलों की फ़ोटो देखने के, कभी उसके पास नहीं फटकेंगे !

अगला सवाल मैं खुद पढ़ गया। किसी इमारत के बनने में सवाल वाले ने देखा था कि इतने आदमी, इतनी औरतें और इतने बच्चे काम करते हैं। वे एक दिन में इतना काम करते हैं। सवाल वाले ने अपनी सहज प्राप्त प्रतिभा से यह भी पता लगाया था कि इतने बच्चे, इतनी औरतों इतने मर्दों के बराबर हैं। दो सही तीन बटा चार औरतें, छः सही सात बटे आठ बच्चों के बराबर हैं। यह भी सवालवाले की प्रतिभा से पता लगा था ! सवालवाले ने फिर पूछा था कि यदि बाद में इतने आदमी और इतने बच्चे ही रह जायँ तो इमारत कितने दिन में तैयार हो जायगी ?

सवाल पढ़ते ही मैं फिर अपने स्वप्न लोक में खो गया। देख रहा था कि एक सवाल बनाने वाला खड़ा है—उसके सामने कुछ कारीगर बैठे हैं। इधर कुछ थे जिन्होंने ताजमहल बनाया था, बीच में कुछ थे जिन्होंने चीन की महानदीवार बनाई थी, उधर कुछ थे जिन्होंने मिश्र के पिरामिड बनाये थे। सवालवाले के हाथ में एक बेंत है। वह अपना बेंत लपलपा कर इन लोगों से पूछ रहा है कि "जब तुम यही नहीं जानते कि चार सही तीन बटा आठ औरतें कितने सही कितने बटे कितना बच्चों के काम के बराबर हैं तो फिर तुमने किस तरह ताजमहल, चीन की दीवार और पिरामिड बनाये ? कैसे तुमने उसे इतने दिनों में तैयार किया ?" कारीगर डर के मारे काँप रहे थे। सवालवाला हाथ खुलवा कर उस पर बेंत जड़ने ही वाला था कि मेरे बच्चे ने मुझे हाथ से ठेल कर कहा—

ले जाओ, फिर किसी दान लेने वाली संस्था को बुला कर कहेगा कि भाई तू बचे हुए धन का दो बटा तेरह ले जा, फिर अंत में छोटे भाई को पाँच हजार गिन्नियाँ गिन दे ? बात यह बेटा कि जिसे वह बाप रुपया देगा, वह तो पूरा ही पूरा देगा न ! यह सब सवालवाले ने नकली बातें बनाई है। किसी बाप को न तो इतना सही बटा करने की फुर्सत ही है और न वह कभी भूले से यह करेगा ? कम से कम मैं तो करूँगा नहीं। और बेटे ! अगर किसी दूसरे के बाप ने अपने लड़कों में यह रकम बाँटी भी तो वह कभी तुम्हें नहीं बुलायेगा कि तुम दाल-भात में मूसरचन्द की तरह उनके बेटों को उस धन का एक बटे आठ समझाने के लिये जाओ !" इसीलिये मुझे हँसी आ गई !"

बच्चे ने फिर कहा—

"तो कल मास्टर साहब से क्या कहेगें ?"

"कह देना कि पापा जी कह रहे थे कि यह सवाल बनाने वाला मूर्ख है !"

बच्चे ने खुश हो कर कहा—

"अच्छी बात है।"

दूसरे बच्चे ने अपना सवाल फिर पूछना चाहा। मैंने कहा—

"अब आज बहुत देर हो गई है। चलो सो जाओ। कल बताऊँगा।"

दोनों बच्चों ने बस्ता समेट कर रख दिया और बत्ती गुल कर अपनी चारपाई पर पड़ रहे।

मैं भी सोने के लिये छज्जे पर बिछी अपनी चारपाई पर आ गिरा। श्रीमती जी ने पानी गिलास मेरे सिरहाने रखते हये प्रसन्नवदन-मुद्रा में पूछा—

"पढ़ाया ? मेरे लड़के पढ़ने में जरूर तेज होंगे। उन्हें कोई मास्टर ही नहीं मिलता था तो वे बेचारे क्या करते ?"

मैंने "हूँ।" करके करवट बदल ली। सामने बरामदे में बाबू कार्तिक चन्द्र चटर्जी अब भी अपने पाँचों बच्चों को बैठे हुए हिसाब पढ़ा रहे थे।

उनका स्वर साफ़ सुनाई पड़ रहा था "अबे तीन बोटा चार औरत कीश माफिक छौ बोटा आट लड़का के बरोबर हुआ ?"

और मैं सोच रहा था कि अपने बच्चों को पढ़ाने के लिये या तो मैं नई अर्थमेटिक की किताब लिखूँ या फिर उनके लिये भी एक दिन बाबू कार्तिकचन्द्र चटर्जी से ही प्रार्थना करनी पड़ेगी !

भद्रा : एक मूल्यांकन

पुराने जमाने में लेखकों के पास 'मूड' नाम की कोई चीज नहीं थी। नतीजा यह था कि उनकी कोई कदर नहीं होती थी। आज कल के लेखक के पास 'मूड' नामक एक महान अस्त्र होता है, जब चाहा तब उसका इस्तेमाल किया और जब चाहा तो एकदम उससे इन्कार कर गये। नौसिखिया लेखकों के लिये यह अस्त्र बड़ा घातक सिद्ध होता है, एक बार आ गया तो फिर महीने बीत जाते हैं और वह उतरने का नाम नहीं लेता और एक बार उतरा तो बस फिर लाख चढ़ाने की कोशिश कीजिये, वह चढ़ता नहीं। यह तो सिद्ध हस्तलेखकों का काम है कि जब चाहा एक इशारे से मूड चढ़ा दिया और जब चाहा एक इशारे से उस मूड को हटा दिया। मैं सिर्फ एक नौसिखिया लेखक ही हूँ इसलिये मेरा 'मूड' ही नहीं चढ़ रहा है, बल्कि यूँ कहूँ कि चूँकि मूड नहीं चढ़ रहा है इसीलिये मैं एक नौसिखिया लेखक हूँ!! इसी वक्त देखिए जनाब 'मूड' महाशय हैं कि उन पर भद्रा का कोप हुआ है। इसी को शायद कहते होंगे, घड़ी में घर जलने को है और श्रीमान् हैं कि अढ़ाई घड़ी भद्रा के फेर में पड़े हुए हैं।

संसार में भविष्य-द्रष्टा बहुत ऊँची निगाहों से देखे गये हैं। चूँकि वे ऊँची निगाहों से देखे गये हैं इसीलिये भद्रा का भी अपना विशेष महत्व माना गया है। पर आज के इस महान् संक्रान्ति-काल में हर वस्तु बदल

रही है। मानव मूल्यों में विघटन हो रहा है। सारी स्थापनाएँ बदल रही हैं। ऐसी दशा में भद्रा के बारे में नये ढंग से सोचने के लिये हर चिन्तनशील प्राणी बाध्य हो जायगा। कहते हैं, बदलते हुए मानव-मूल्यों की स्थापना के लिये कुछ मौलिक आधारभूत सिद्धान्तों को पकड़ना चाहिये. . तभी काम बनता है। उदाहरण के लिये यही कहावत लीजिये—घड़ी में घर जले और अढ़ाई घड़ी भद्रा !! इसमें आधार-भूत मानव-मूल्य है घर। यानी उसे न जलने दिया जाय ! है न ? आज के जमाने में जब हर ओर घर फूँक तमाशा देखने वालों का अपार जनमत है तो हमें इस मूल्य की पुनः स्थापना करनी होगी। घर के प्रति इतना मोह आदमी को कहीं का नहीं रखता ! कुछ भी करना है, आगे बढ़ना है, नाम कमाना है, अपना झण्डा गाड़ना है, तो आप चुपचाप पहिला काम यह कीजिये कि अपना घर फूँकिये और कहिये कि अढ़ाई घड़ी क्या नौघड़ी भद्रा भी रहे तो भी मैं इसे बुझाने नहीं जाता ! (यह बात दूसरी है कि 'अपना घर' की परिभाषा आप क्या समझते हैं ? कुछ हो······) नतीजा यह होगा कि जनता के नोटिस में तो आप उसी दिन आ जायेंगे। इस प्रकार घर का जल जाना यदि उन्नति का एक 'सोर्स' मान लिया जाय तो भद्रा के नाम पर इसमें वे सभी अड़चनें गिनी जायेंगी जो कि अपनी उन्नति में बाधक सिद्ध होती हैं।

आधुनिक युग की भद्राएँ कई प्रकार की हो सकती हैं जो समय पर आदमी को अवसर से चुक जाने के लिये बाध्य कर देती हैं। पुनर्मूल्यांकन के युग में भद्रा का एक विशेष स्थान है। कहते हैं कि इस भद्रा के कई रूप हैं—आध्यात्मिक भद्रा, आधिभौतिक भद्रा, आधिदैविक भद्रा।

भद्रा किस प्रकार जीवन को कुंठाओं से ग्रस्त करती है यह आप इन तीनों ही रूपों में पायेंगे। इन सब में सरल है आधिभौतिक भद्रा। यानी यूँ समझिये कि आपने किसी को कुछ लिख-पढ़ कर या जबानी गाली दी है और वह है कि आपको लिख पढ़ कर या जबानी जवाब नहीं देना चाहता बल्कि डंडा लिये आपके दरवाजे पर खड़ा है कि आप निकलें और वह समझ ले। वह भी यह जानता है कि आपको इसी ट्रेन

से कहीं किसी सम्मेलन में भाग लेने जाना है। और आप भी यह जानते हैं कि आपको 'मरता क्या न करता' का मुहाविरा याद है। इस भद्रा को अढ़ाई घड़ी क्या अढ़ाई घण्टा भी खड़ा रहना पड़े तो वह बाज नहीं आयेगा। नतीजा यह होता है कि आप अपने ही घर में पिछवाड़े के हिस्से में अन्दर से सेंध लगाते पाये जाते हैं। आधिभौतिक भद्रा के मारे यह भी 'करम' करना पड़ता है।

आध्यात्मिक भद्रा भी आदमी को बुरी तरह घेरती है। इसे जरा पुरानी भाषा में कहें तो सिद्धान्तगत भद्रा कहेंगे और नयी भाषा और नये स्वर में, नयी पीढ़ी के लहजे में कहें, तो 'बायोग्राफ़ीप्वाइंट-ऑफ़-व्यू' कहेंगे। अर्थात् बहुत-सी बातों का अवसर सिर्फ़ इसीलिये खो देंगे उससे हमारा सिद्धान्तगत मतभेद है। सवाल यह उठता है कि सिद्धान्त होते क्या हैं? आज की शब्दावली में उसका विश्लेषण किया जाय तो ऐसा समझिये कि हर चतुर आदमी एक सिद्धान्त रखता है। बिना सिद्धान्त के, उसका आज की दुनिया में जीना मुश्किल है। अपने स्वार्थ को आप कहाँ तक लफ्-फ़ाज़ी घेरे में बाँध कर औरों को भी वही काम करने के लिये बाध्य कर सकते हैं—यही आपके सफल सिद्धान्त की कसौटी है। अगर आप दूसरे का सिद्धान्त सफल होते देखते हैं, और आपका ज्ञान नहीं गंठता तो आप उस व्यक्ति से सिद्धान्तगत मतभेद रखिये। दूसरे का यह सिद्धान्त आपके लिये भद्रा ही सिद्ध होगा, (हाँ यह आपकी बुद्धि पर निर्भर करता है कि उसे आप सिर्फ़ अढ़ाई ही घड़ी रहने दें!) नयी पीढ़ी इसे 'बायोग्राफ़ी-प्वाइन्ट-ऑफ़-व्यू' या 'आत्मकथा-वादी दृष्टिकोण' इसलिये कहती है कि वह जानती है कि भविष्य में उसके जीवन-चरित की जब माँग होगी तब उसके सिद्धांतों की चर्चा की जायगी और उस वक्त जब वह इधर-उधर के सिद्धान्तों से पिटा हुआ रहेगा तो उस बेचारे का जीवन-चरित क्या मूल्य रखेगा? इसलिये इस भद्रा का सामना आप नितांत आत्मकथावादी दृष्टिकोण से कर सकते हैं।

तीसरा रूप है आधिदैविक भद्रा। इसके अन्तगर्त 'साधना' आदि वस्तुएँ

आती हैं जिसके कारण अवसर पर चूक होती है। आधिदैविक भद्रा का रूप आपको एक कहानी से स्पष्ट करूँगा। मेरे एक मित्र हैं। नये नये शादी शुदा! बीबी उनकी अतिशय सुन्दर हैं। एक तो नयी शादी फिर सुन्दरी बीबी और तीसरे जब वह उसे छोड़कर तीन सप्ताह के लिये अपने मैके चली गयी तो मेरे मित्र को देखते-देखते ऐसा विरह व्यापा, ऐसी करुणा उनके अन्तर में आन्दोलित हुई कि वे अगले दिन पत्रकार से कवि हो गये। होने को तो वे कवि हो गये और तत्काल विरह की कविता लिखने के लिये बैठ गये। पर हाय री भद्रा! कहाँ से आ टपकीं! किसी ने कान में फूँक दिया, 'बिना साधना के आदमी कवि नहीं हो सकता।' मित्र महोदय साधना करने लगे···चटाई बिछा कर प्राणायाम शुरू किया और तीसरे सप्ताह तक पहुँचते-पहुँचते जब वे सिर के बल नीचे आग जला कर उल्टे खड़े रहने के आदी हो गये थे, तब सहसा उनकी पत्नी आ गयी। मिलन की बेला आ गयी। किन्तु कवि मित्र की साधना पूरी हो चुकी थी···वे विरह की कविता लिखने लगे। जैसा कि स्वाभाविक था पत्नी महोदया को इनकी यह हरकत देखकर (कि जब वे स्वयं ही इनके पास बैठी हों और ये विरह के गीत लिखें!) बहुत दुख हुआ। कवि मित्र ने लाख समझाया कि ये कविताएँ उन्हीं के विरह में उन्होंने लिखी थीं पर वे काहे को मानतीं। साधना की भद्रा उन्हें ले बीती। बीबी साहिबा नाराज़ होकर फिर अपने मायके जा पहुँचीं और हमारे बेचारे कवि मित्र के पल्ले सिर्फ प्राणायाम ही पड़ा!! कविता भी प्रेयसी न बनी!!

दरअस्ल भद्रा का प्रश्न मूलतः आस्था और अनास्था का प्रश्न है। इसकी बारीकियों को ज़रा ध्यान से समझना चाहिये नहीं तो घर तो उसी तरह से जल जाता है जिस तरह रावण का जला था और भद्रा को समझकर काट जाने वाले उसी तरह आनन्द करते हैं जिस तरह विभीषण चारों तरफ की आग में भी अपना घर सही सलामत लिये बैठे रहे।

यूँ कहिये तो भद्रा बुरी चीज नहीं है जैसा कहा गया है कि दुनिया में कोई चीज बुरी नहीं होती सिर्फ उसके प्रति हमारा दृष्टिकोण उसे बुरा भला

बनाता है। भद्रा तो अनेक देशों में जन-तन्त्र की पद्धति को भी मजबूत बना चुकी है। सवाल पर सवाल उठते जाते हैं और काम कभी पूरा होने पर नहीं आता। पर इससे क्या? उससे जनतन्त्र की पद्धति तो मजबूत होती है।

बेटर-हाफ़

उनके अलावा कहीं भी उनकी चर्चा करना, ख़तरे से ख़ाली नहीं है। और फिर आपके सामने उनकी बातें करना यह तो समझिए कि मेरा गीदड़नुमा मन अनायास शहर की ही तरफ़ भागने को उतावला दिखाई पड़ता है !! मैं उनकी तारीफ़ भी करूँ तो भी आप पर मुझे विश्वास नहीं है कि आप उनसे क्या कह दीजिये। कहते हैं कि एक चुप हजार बला टाल ! पर आज के जमाने में चुप रहने वाले को सब गधा समझते हैं। उसकी क़दर नहीं करते। दोस्तों के बीच चुप रहिए तो वे समझते हैं कि हजरत नाराज हैं। अफ़सर के समाने चुप रहिए तो वह समझता है कि इसे बोलना नहीं आता, बीवी के समाने चुप रहिये तो वह समझती हैं कि जो कुछ मैं कहती हूँ वह सब हमारे 'उनके' मन भाता है। लेकिन मेरी बीबी साहिबा को सबसे बड़ा गिला यही है कि मैं उनसे बोलता नहीं हूँ उनकी नाराजगी को मुस्करा कर झेल जाता हूँ" 'मेरी मुस्कुराहट से उन्हें कुढ़ है। न मनाना, न समझाना, न पुचकारना, न दुलारना···बस हँसी हँसी ! क्या मजाक है !! हास्य को वे इसीलिए शृंगार का विरोधी रस मानती हैं !! मेरा चुप रहना उन्हें अखरता है।

सुबह हुई और सहसा उन्हें यह ध्यान आ जाता है कि हमारे घर का नौकर सब से नालायक़ है, बदहवास है, बेअक्ल है, बेशऊर है और जाने

क्या-क्या है जो उस बेजारे की भी समझ में नहीं आता होगा। भट्टी सुलगाना तक उसे नहीं आता, चाय बनानी उसे नहीं आती, कमरे में झाड़ू तक लगानी नहीं आती··ऐसे निखट्टू नौकर को दुनिया में कहीं जगह नहीं मिलती···एक हमारा ही घर है! खैरातखाना समझ रक्खा है !! सारी दुनिया में अच्छे-अच्छे नौकर पड़े हुये हैं एक इन्हीं को जाने कहाँ-कहाँ से एक न एक चपरकनाती नौकर मिल जाते हैं··· रेडियो पर जैसे सुबह प्रभाती सुनने के कान आदी हो गए हैं ठीक उसी तरह से मेरे लिए यह भनभनाहट काम करती है···यानी मैं समझ लेता हूँ कि मेरे जागने का वक्त हो गया है और अब चाय तैयार है। न सिर्फ़ उनकी इस भनभनाहट पर मैं चुप रहता हूँ मैं यह भी जानता हूँ कि इस नौकर को निकाल बाहर करने में वे क़तई मेरा साथ नहीं देंगी। इसीलिये हर रोज सुबह मैं मुस्कुराता हुआ बिस्तर छोड़ता हूँ और इसका श्रेय उन्हीं को है।

काहिल हूँ पर इस हद तक नहीं कि कोई दूसरा मेरी काहिली को भला-बुरा कहे। सुना है कि हिन्दुस्तान में तो आदमी की औसत उम्र सिर्फ़ तेईस साल है। जिस चीज को जितना इस्तेमाल कीजिये, वह उतनी ही जल्दी खत्म होती है! काया को बचा कर रखता हूँ तो इसीलिये कि आगे उनके ही काम आएगी! वरना मेरा क्या?······अपनी सांस्कृतिक परम्पराओं में तो सुना है कि प्राचीन ऋषि मुनि इस तरह बिना हिले डुले रहते थे कि उन पर घास पात उग आती थी, बाँबियाँ बन जाती थीं! जाहिर है कि मैं उतना काहिल नहीं हूँ। पर फिर भी उन्हें मेरी काहिली की शिकायत है···मैं किसी के घर नहीं जाता, घर के बच्चों के लिए कपड़े लाने नहीं जाता, बाज़ार से हरी सब्जी लेने नहीं जाता, अपनी ससुराल नहीं जाता, सिनेमा नहीं जाता, ग़रजे कि मैं कुछ नहीं करता। मगर मैंने कहा न, कि मैं तो उन्हें हँसी के एक अस्त्र से परास्त कर देता हूँ। उन्हें कैसे बताऊँ कि यह पाँच फ़ीट छः इंच की काया को साइकिल पर खींचकर दफ्तर ले जाता हूँ···दिन भर क़लम घिसता हूँ···दोस्तों से गप्प लड़ाता हूँ··कितने ही प्याले काफ़ी पी जाता हूँ··लम्बी-लम्बी बहसें करता हूँ··

अपने सामने किसी को कुछ नहीं लगाता हूँ···फिर भी उनका कहना कि मैं काहिल हूँ और मुझे अपनी काहिली छोड़ देनी चाहिये। काहिली के बारे में उनके विचार अट्ठारहवीं शताब्दी के हैं और वे खुद काहिली के आधुनिकतम संस्करणों से परिचित नहीं होना चाहतीं, उल्टे वे इसकी शिकायत करती हैं। नतीजा यह है कि आस पड़ोस मुहल्ले वाली उनकी सहेलियों की निगाह में मैं गिर गया हूँ। पर आप सच मानिए, इसके लिए मेरे मन में तनिक भी गिला नहीं है।

मगर इसी से उनका पेट भर जाय, ऐसा नहीं है !! जब एक चीज तै हो गई, तत्व स्थापित हो गया, तो जितनी उसकी उपशाखाएँ हैं उनका भी मालिक मैं अपने आप हो जाता हूँ। मसलन चूँकि मैं काहिल हूँ इसलिये मैं बाजार नहीं जाता, चूँकि मैं बाजार नहीं जाता इसलिये मैं घर भर के प्रति लापरवाह हूँ। कैसे ? यानी मैं किसी के लिए कभी कुछ नहीं लाता। बेबी के लिए बिस्कुट नहीं लाता, मुन्ना के लिये किताबें नहीं लाता, घर भर के लिये मिठाई नहीं लाता और खुद उनके लिए कपड़े की एक चिट भी नहीं खरीदता। इससे बढ़कर और लापरवाही क्या हो सकती है ? चुप रहिए तो सब गुनाह स्वीकृत माना जायगा। कपड़ों के बक्से भरे हों, पर उससे क्या···"आपने खुद अपने हाथ से क्या लाकर दिया ?" खुद मैंने अपने लिए क्या खरीदा है, इसको पूछने वाला कोई नहीं।

कौन ज़रा सी बात उन्हें किस महान सूत्र का उद्‌घाटन करने को बाध्य कर देती है, इसका विश्लेषण करना, मामूली काम नहीं है। जिस दिन वे मकान पर बिगड़ रही हों और ज़ोर-ज़ोर से परोक्ष रूप से मुझे सुना रही हों कि सारी दुनियाँ को मकान मिल जाते हैं···अच्छे-अच्छे बँगले मिल जाते हैं···पैसे भी कम खरचते हैं और ठाठ से रहते भी हैं···यहाँ है कि साठ रुपिया देते हैं और पैर फैलाने की जगह नहीं। चार बरतन रख दो तो रसोई भर जाय···धुआँ तक नहीं निकलता···हुँ हुँ···मकान मिले तो कैसे···आखिर घर में पड़े-पड़े कौन मकान दे देता है···दोस्तों से गप

लड़ाने से छुट्टी मिले तब न···और इधर मैंने समझ लिया कि आज या तो लकड़ी गीली थी, जली नहीं या भट्टी का कोयला कच्चा निकल गया !! "कहाँ की व्यथा निकसी कित जाय के ?" यह भला कौन जान सकता है ? चूल्हा जला नहीं··रसोई घर में धुआँ ही धुआँ हो गया, आँखों से आँसू बहने लगा तो बस समझिए कि देवी जी मकान पर बरस रही हैं ! इसलिये जब वह मकान पर बिगड़ती हैं तो मैं हमेशा सूखी लकड़ी खरीदने की फ़िक्र करता हूँ ।···

पर · माफ़ कीजियेगा, मैं बहुत कुछ ऐसा लिख गया हूँ जिसको आप मेरे खिलाफ़ ग़लत ढंग से इस्तेमाल कर सकते हैं ! न···न···मेरा मतलब कतई उनके खिलाफ़ कुछ कहने का नहीं है । मैं जानता हूँ कि वह मेरा कितना ख्याल रखती हैं । मेरे हर मामले को वह पूरी तरह जानती हैं और उनमें पूरी रुचि लेती हैं । हर जगह वह इसका ध्यान रखती हैं कि मेरी ख्याति बढ़े, मेरी मुसीबतें हल हो जायँ, और वे हर तरह से मेरी अँग्रेंजी वाली "बेटर हाफ़" या हिन्दी वाली "अर्द्धाङ्गिनी" बन सकें ।

मैं उनकी इस भावना की बड़ी कदर करता हूँ । उनकी बुद्धि का लोहा मानता हूँ । भले ही अपने कपड़े के बारे में उनको शिकायत हो पर मेरे कपड़ों के बारे में उनको बहुत चिन्ता रहती है । दफ़्तर जाने लगता हूँ तो वे मेरे पूरे बक्स को उलट कर उसमें से रंगीन कमीजें छाँट कर मुझे पहिनातीं हैं । उनका विचार है कि रंगीन कपड़े मुझ पर हर मौसम में अच्छे लगते हैं । अगर इन्हें अच्छे लगते हैं तो फिर मैं किस मुँह से कहूँ कि मुझे अच्छे नहीं लगते या किसी और को यह अच्छे नहीं लगते । कहूँ तो एक और बला अपने सिर कौन मोल ले···किसे बताऊँ कि अमुक कहता है कि मेरे ऊपर ऐसे कपड़े अच्छे नहीं लगते । मैं किस तरह अच्छा लगता हूँ इसके निश्चय का एक मात्र अधिकार सिर्फ़ उनका ही है । इसे किसी भी तरह से तोड़ना मेरी सामर्थ्य के बाहर है । उनका निश्छल प्रेम अपने गहरे स्लेटी रंग के बावजूद मुझे किसी दिन बैंगनी कमीज पहिनने के लिए बाध्य कर सकता है ! पर मैं वह दिन देखने के

लिए तैयार हूँ। मुझे उनसे उनके निश्छल प्रेम का सर्टीफिकेट तो मिल जायगा !!

अगर घर भर में बिजली फ़ेल हो गई है, घुप्प अँधेरा है और मैं टार्च के सहारे उसका फ्यूज ठीक करना चाहता हूँ तो वे एक चिन्तातुर बीबी की तरह मेरे साथ-साथ रहेंगी ! बिजली का मामला !! पता नहीं किस वक्त ठाँव कुठाँव हाथ पड़ जाय ! और जनाब एक बार हाथ कुठाँव पड़ा कि उनका सुहाग तो घपले में पड़ जायगा ! पढ़ी लिखी हैं। जानती हैं कि बिजली का धक्का रबड़ के जूतों से और लकड़ी की मेज़ पर खड़े होने से नहीं लगता। अँधेरे में मेरे खेल वाले पुराने जूते ढूँढ जा रहे हैं। बिना उसके मैं बिजली का तार छू नहीं सकता। जूते ढूँढ़ ढाँढ़ कर आ गए। तब एक बड़ी भारी मेज़ निकलवाई गई। उस पर चढ़ कर और वे जूते पहिन कर मुझे बिजली का फ्यूज़ बनाना है। फ्यूज़ प्वाइंट मेज़ से बहुत नीचा पड़ता है…पर चाहे जैसे बनाइए…रात भर वे अँधेरे में काट लेने के लिये तैयार हैं पर मैं मेज़ से नीचे उतर कर बिजली बना लूँ, यह वे मानने के लिए तैयार नहीं !! बेहूदे ढंग से ऊँची मेज़ से बार-बार झुक कर बत्ती का तार बाँधने में अगर मैं एकाध बार औंधे मुँह नीचे गिर भी जाता हूँ तो क्या हुआ ? जान है तो जहान है ! मेज से गिर पड़ने में ज्यादा से ज्यादा नाक का या दाँत का खतरा रहता है पर उनका सुहाग तो अमर रहेगा। आप बड़े वकील-बुद्धि बनते होंगे, पर इस सुझाव के खिलाफ़ आपके पास है कोई तर्क ?

उनके हर सुझाव अपने तर्क से युक्त होते हैं। उन्हें काटना बड़े से बड़े वकीलों के लिए भी संभव नहीं है। फिर मैं भला दीन-हीन मतिमंद क्या कह सकता हूँ। उनके सुझावों का, मैं सचमुच आदर करता हूँ। आदर न करूँ तो फिर करूँ भी क्या ? मेरी हर बात को वे इस तरह काट देती हैं कि उनके घर पर उनके बाबू जी, उनकी माता जी और उनके भइया उसी समस्या को दूसरे ढंग से हल किया करते थे !! मान लीजिये मैं कहूँ कि मुन्नू को टाइफ़ाइड हो गया है, उसके लिए डाक्टरी इलाज

करना चाहिये तो उनका अकाट्य सुझाव सुनाई पड़ता है···"अब आप चाहे जिसका इलाज कीजिये पर हमारी अम्मा तो नाखून पर केला का गूदा मल देती थीं। उसके बाद जो मजाल कि मियादी बुखार किसी को झाँक भी जाय !! आज तक हमारे घर में किसी को मियादी बुखार हुआ ही नहीं। पर अपना-अपना विश्वास है ! आपको तो मैं अगर कोई सिद्ध बूटी भी लाकर दूँ और आपको पता चल जाय कि मैं आपकी ससुराल से लाई हूँ या मेरे घर वालों ने बताया है तो आप उसे भूल कर भी नहीं छुएँगे।" ऐसा मार्मिक भाषण सुनने के बाद आप में यह हिम्मत है कि आप यह साबित करें कि नाखूनों में केले का कूदा मलना एकदम वाहियात है और इससे बुखार कभी नहीं जाता !! जी हाँ, मैं भी नहीं कर सकता।

नाखून की तो बात ही अलग है, अक्सर मुझे लगता है कि मेरी बुद्धि पर ही उन्होंने केले का गूदा मल दिया है। उनके सुझावों के प्रति मेरा आदर है, मैं जानता हूँ कि वे आस्था भरे अपने सुझावों से मेरा उपकार करना चाहती हैं। पर उन्हें अपने सुझावों को देने का सही वक्त नहीं मालूम है। अक्सर वे सुझाव कब देती हैं जब मेरी आधी दाढी बनी होती है और मैं उनकी ओर भौंचकित होकर देखता रह जाता हूँ या जब मैं तस्वीर के लिए कील ठोंक रहा होता हूँ तो उनका चमत्कारिक सुझाव मुझे अपने अँगूठे पर हथौड़ा दे मारने के लिये बाध्य कर देता है···पर जाने दीजिये। मैंने कहा न कि मैं उनके सुझावों का आदर करता हूँ। और मैं कतई नहीं चाहता हूँ कि उनकी इस भावना को ठेस लगाऊँ ! आखिर वे मेरी "बेटर हाफ़" हैं···मेरी अर्द्धाङ्गिनी हैं।

रस बरसै मैं भीजूँ

यदि आपसे कोई भलामानुस आकर बताए कि कमरे के बाहर ताज़ा गन्ने का पेरा हुआ रस बरस रहा है, आइए महाभाग ! चलें, उस रस में भीगें तोऽऽ? आप कितने ही मधुर-प्रिय, मिष्टभाषी और रसिक हों, पर शायद उस चिपचिपाहट का अन्दाज़ लगा कर आप अपना दरवाज़ा बन्द कर लें, इसके अलावा कोई दूसरा रास्ता नहीं हो सकता। शायद कई दिन तक आपके रोंगटे अपनी जगह पर वापस न बैठ सकेंगे। पर मेरे कवि मित्रों को यह समझाना कठिन है ! जब साधारण पानी में वह इतना मज़ा लेते हैं तो जब सचमुच रस ही बरसता होऽऽ? पर सावन के अंधे को क्या कहिए और क्यों कहिए ?

'आषाढ़स्य प्रथम दिवसे' कभी आपको यह एहसास हुआ है कि आप के घर भर में उस दिन से कितना हड़बोंग और हंगामा मचा हुआ है ! छत से उतर आप कमरे में भागने को तैयार हैं कि सहसा आप पाते हैं कि आँगन-निवासिनी अनेक अचार दानियाँ भी आपके ही साथ उसी कमरे में रहने को कमर कसे हुए हैं। कमरे में चारपाई का एंगिल हर क्षण बदल रहे हैं—छतें आनन्द के मारे रसा रही हैं। अन्त में चारपाई का एक ऐसा एंगिल मिल जाता है जहाँ किसी ओर से बूँदों के पड़ने का भय नहीं रह जाता ! लक्ष्मण-रेखा खींच कर और जगह-जगह पर पानी भरने के लिए

कनस्टर, बाल्टी, गिलास, लोटा लगा कर तब नींद बुलाते हैं—'आजा री निंदिया तू आजा ज़रा !' पुरवइया डोल रही है, बहू जी का बाई का दर्द जोर मार रहा है—जुलाई, अगस्त, सितम्बर के लिए डाक्टर साहब को एक वज़ीफ़ा बाँध देना होगा ! आषाढ़ क्या आया कि बहू जी और मकान मालकिन का झगड़ा शुरू हो जाता है। बरसात लगते ही हर साल बहू जी को पता चलता है कि इस घर में छत पर कोई टीन नहीं पड़ी है जहाँ सब लोग सो सकें। छत पर सोए और रात में पानी बरसना शुरू हुआ तो अब चारपाई कौन उतार कर लाए ? सारी रात चारपाई चढ़ाते उतारते रहिए तो रात भर की यही कमाई हाथ लगेगी। मकान मालकिन कहती है कि आप घर छोड़ दीजिए। बहू जी कहतीं हैं कि वे किराया नहीं देंगी। पर सितम्बर ख़त्म होते-होते बहू जी का 'टेम्पर' भी शान्त हो जाता है—मालकिन को किराया मिल जाता है और वे बहू जी से उसी घर में बने रहने के लिए इसरार करती हैं !

रात भर पानी बरसा है। अन्दाज़न लग रहा है कि अब सुबह हो गई है क्योंकि रस अब भी बरसे ही चला जा रहा है ! परित्यक्ता किंतु वफ़ादार बीबी की तरह भूली बरसाती और टूटे छाते के प्रति नायक का ध्यान जाता है। निकलवा कर देखा। 'ट्रैजिडी' के 'इफ़ेक्ट' को अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए किसी खलनायक चूहे ने बरसाती के कपड़े का उपयोग अपनी भूख-हड़ताल तोड़ने के लिए कर डाला था। छाते में सब कुछ था—कपड़ा था, तीलियाँ थीं, हैंडिल था—पर जहाँ तीनों जुड़ते थे वह खुल गया था। विकेन्द्रीकरण होने के कारण मेरा छाता बिल्कुल धुरी हीन लग रहा था ! बहू जी पुरानी चीज़ें कभी नहीं फेंकतीं। पुरानी बरसाती में से एक टुकड़ा फाड़कर उसकी चकती लगा दी गई। मेरे पुराने जूते भी घर में ही थे। बरसात भर मैं अपने इन्हीं पुराने मित्रों की त्राण में रहता हूँ। दो-तीन साल पहिले इन जूते महोदय से मेरी अच्छी दोस्ती थी। लगभग रोज़ का ही उठना बैठना था पर आज मिले तो कुछ उसी तरह अकड़े हुए थे जैसे मेरे एक सहपाठी एम० एल० ए० ! बहुत सीधा करना चाहा, पर वे अकड़

कम करने को तैयार न दीखे ! पर इतनी जल्दी जीवट खो देना मर्दों का काम नहीं है, यह समझकर बहू जी ने मेरे पाँव में वह जूता चढ़ा दिया ! घर में सब्ज़ी नहीं थी। पानी बरसते में सब्जी वाला आए न आएगा—कौन उसे दफ़्तर में हाजिरी देनी है? जिसे देनी थी, उसे सब्जी लेने जाना पड़ा !

जूते महोदय ने फिर जो पुरानी धरती और पानी देखा तो कुछ नरम पड़े। गली में घुटने भर पानी भर गया था। एकरसता का इससे अच्छा नमूना क्या हो सकता था—नाली, सड़क, चबूतरा, गड्ढा, म्यूनिस्पिलटी का पाइप—सबका अन्तर मिट गया। सड़क समझ कर पैर रक्खा और पहुँच गया नाली में—क्या कहिएगा चले राष्ट्र निर्माण के लिये और हाथ लग गया कमेटियों का भत्ता !! एकरसता में बड़े झंझट हैं। काश ! ऐसे मौके के लिए हर म्यूनिस्पिलटी के पास वेतनभोगी 'अगस्त्य मुनि' हुआ करते ! आजकल न जाने कितने 'अगस्त्यमुनि' वेतन-भोगी कर्मचारी हो गए हैं। म्यूनिस्पिलटी कोशिश करे तो मिलना असंभव नहीं है !)

बच्चे उछल रहे थे। उनके स्कूल में 'रेनी-डे' मनाया गया था। ठीक है। मैं सोच रहा था, बरसात स्कूल के अहाते में हो तो कोई फ़िक्र की बात नहीं। पर दफ़्तर···? हम जाने को तैयार हैं पर आज बस न चलेगी ! दूसरी सवारी दफ़्तर पहुँचाने का इतना पैसा माँगती है जितनी मेरी एक दिन की मज़दूरी नहीं है ! बुरा हो इस मौसम का ! दफ़्तर के बड़े बाबू बरसात का बहाना मानने के लिये कभी तैयार नहीं होंगे। 'लेट' हो गये तो हाज़िरी रजिस्टर में लाल निशान बना दिया जायगा। आप लाख भीग कर जाइये, जूड़ी-बुख़ार वाली कँपकँपी दिखाइये पर बड़े साहब आपकी मुसीबत मानने को तैयार नहीं ! उनकी मोटर की बैटरी भी तो फ़ेल हो गई थी पर उन्होंने बरसते पानी में दस चपरासियों से धक्का लगवा कर मोटर स्टार्ट कराई और दफ़्तर आये ! आख़िर 'सेंस आफ़ ड्यूटी' भी तो कोई चीज़ है?' 'आख़िर आप नमक तो नहीं हैं ?' 'आख़िर पानी बरसते में दुनिया का कौन-सा काम रुक जाता है ?'

'एक आपके ही लिए पानी बरस रहा था ?' बड़े साहब का साथ जब सब देते हैं तो इन्द्र की क्या बिसात ? पर अगर इन्द्र देवता कभी पकड़ में आ जाते तो जाने कितने लोग अपने हाज़िरी-रजिस्टर पर बने लाल गोले उन्हें दिखाते और उस दिन की तनख़्वाह उनकी 'पाकेट' से निकाल लेते !

शाम हो गई है फिर भी ये अभी टिपिर टिपिर लगाये हुए हैं—बड़ा-सा बँगला हो, हरा-भरा लॉन हो, फूलों की क्यारियाँ हों जो खल के वचनों की तरह बूँदों का आघात सहकर परेशानी से नाच रहीं हों, सामने खूब बड़ा बरामदा हो, उसमें एक आराम कुर्सी पड़ी हो जिसके सामने की टेबुल पर भाप निकलती हुई चाय की एक प्याली हो, हाथ में एक छोटा सा रोमांटिक नावेल हो तब 'बून्द पोड़े टॉपूर-टिपूर' गुनगुनाना कितना मज़ा देता होगा, यह मैं समझ सकता हूँ—पर जब घर भर में पानी की किचकिच के मारे पाँव रखने की जगह न हो, उठते हुए धुएँ को बाहर निकलने के बजाय कमरों में फैलना ही ज़्यादा पसंद आ रहा हो, घर से भागने का मन कर रहा हो, उसी वक्त यह 'बून्द पोड़े टापूर टिपूर' कितना 'एबसर्ड' मालूम पड़ता है ! 'सुधि के सावन' गाने वाले मेरी मुसीबत कभी नहीं समझेंगे, 'ओ पिया, पानी बरसा' पुकार कर सोफ़े पर पंखा खोलकर सो जायँगे, पर मेरा यार—नई कविता का कोई कवि—मेरी मुसीबत ज़रूर समझेगा। इसी उम्मीद पर जी रहा हूँ ! भगवान भला करे उसका !

यहाँ तक पढ़ने के बाद आपको सोचना चाहिए कि यह आदमी कितना कृतघ्न है ! भला धरती की प्यास बिना बरसात के कैसे बुझती ? फसलों का क्या होता ? गरमी का क्या होता ? पानी न बरसता तो बच्चू·······आदि ।

मैं जानता हूँ। यह सब जानता हूँ। पर सोचता हूँ इन्द्र महराज को (या जो भी उस हवाई वाटर-वर्क्स के अध्यक्ष हों, उन्हें) यह तमीज़ क्यों नहीं आती कि पानी कहाँ बरसाना है और कहाँ नहीं ? एतराज़ अगर

मुझे है तो सिर्फ़ इतनी सी बात पर ! बहरहाल, होगा ! मैं तो छाती पर पत्थर रक्खे उस दिन की बात सोच रहा हूँ जब पूरा आसमान एक बड़े बाथरूम की छत की तरह बना लिया जायगा जिसमें से कल घुमा कर हम जितना पानी चाहेंगे, उतना 'शावर बाथ' के लिए गिरा लिया करेंगे !

बेजबान टाउन हाल

मेरे पिता का नाम आप जानते हैं? जानते ही होंगे। पत्थर की एक सिल में उनका नाम खोद कर मेरी छाती में चिपका दिया गया है। यूँ लोगों को कहते सुनता हूँ कि मेरी लम्बी चौड़ी काया खड़ी करने के लिए बहुतों ने पैसा लगाया था पर चूँकि वह सब हैवेल साहब के आतंक के ही कारण लगाया था, इसीलिए हैवेल साहब ही सर्व सम्मति से मेरे पिता माने गए। शहर कलक्टर की कुर्सी पर बैठने के कारण हैवेल साहब मेरे मानस पितृव्य हुए।

जब आप बरामदा पार करके मुझसे मिलने के लिए सामने के दरवाज़े से भीतर घुसते हैं तो सामने ही आपको यह गलमुच्छों वाली भयानक सी जो शक्ल दिखाई पड़ती है, वह मेरे उन्हीं पिता जी की पत्थर की मूर्ति है। दाहिने हाथ पर आपको सोने के फ्रेम में मढ़ी हुई यह जो कद्दे-आदम तस्वीर दीख पड़ रही है। जी हाँ, महल के अन्दर, अचकन, चूड़ीदार पाजामा पहिने, गोल, फेल्ट टोपी लगाए, गोल मटोल जूते पहने, हाथ में चाँदी की मूठ वाली छड़ी लिए जो दाढ़ीदार व्यक्तित्व दिखाई पड़ रहा है, यही यहाँ की म्यूनिस्पिलटी के पहिले चेयरमैन मुँशी गुलशन लाल थे। बात काफ़ी पहले की है। उस वक्त नक्शा ही और था। शहर में जो रईस होते थे वही घूम फिर के चेयरमैन साहब हुआ

करते थे। शहर के रईसों की ही पार्टी होती थी। यहाँ कायस्थ पार्टी है, वह खत्री पार्टी है, यह ब्राह्मण पार्टी है, यह ठाकुर पार्टी है···हर पार्टी में रईस होते थे···वही इलेक्शन लड़ते थे और जीत जाने पर अपनी फोटो मेरी छाती पर टाँग जाते थे। गिने चुने मौकों पर ही वह मेरा मुँह देखते थे और मैं उनका मुँह देख पाता था।

हैवेल साहब, कॉक'साहब, बोल्ट साहब, सभी लोग एक के बाद एक यहाँ आए। अच्छे दिन बीते। इन सब के आतंक ने मेरी काया को बहुत सुख दिलाया। सुबह शाम सफ़ाई और दिन भर रात भर का आराम। महीनों बीत जाया करते थे मगर शोर शरापा और गुल गपाड़े का नाम भी नहीं सुनाई पड़ता था। बहुत हुआ तो जाड़ों में एकाध मुशायरा सुनाई पड़ जाता था···वह भी तब जब यहाँ की कायस्थ पार्टी के कोई चेयरमैन होते। रात भर "वल्लाह वल्लाह" का शोर सुनाई पड़ता था। कलक्टर साहब की जब बदली होती थी तो अक्सर चाय पार्टियाँ भी देखने को मिल जाती थीं। एक बार जब छोटे लाट साहब यहाँ आए थे तो उस वक्त के चेयरमैन साहब ने मेरे दरवाज़े पर रुपए लुटाए थे। बहुत भीड़ हुई थी···पटवारी से लेकर कलक्टर तक सभी उमरा भरे हुए थे। जितने आदमी नहीं थे उसकी चौगुनी पुलिस लगी हुई थी। मेरी रंगीन खिड़कियों में बिजली के लट्टू जला कर रोशनी की गई थी। रात में लोग मुझे देखने आए थे। ऐसी ही सजावट एक बार और हुई थी जब बादशाह जार्ज पंजुम की जुबली मनाई गई थी। तब इसी शहर के एक लड़के ने गाया था "यशस्वी रहें हे प्रभो हे मुरारे, चिरंजीवि रानी व राजा हमारे।"

मगर यह सब पुराने वक्त की बात हो गई है। मुझे १९४७ का अगस्त महीना याद आ रहा है जब मेरे सिर पर तिरंगा झण्डा फहराया गया था···फहराने वाले वही चेयरमैन साहब थे जिन्होंने छोटे लाट साहब के जाने पर रुपए लुटाए थे। हाँ, उनके साथ वह लोग इस बार भीतर दिखाई पड़ रहे थे जो लाट साहब के आने पर बाहर खड़े नारे लगा रहे थे।

आँख झपते जमाना बदल जाता है। पर मैंने तो पलकें भी न झँपाई और जमाना यह उड़ा और वह उड़ा हो गया। रईसों के वैसे दिन चले गए। अब मेरे दरवाज़ों की कुंजी हासिल करने के लिए चुनाव के अखाड़े चलने लगे। लोगों के साइन बोर्ड और बिल्ले बदल गए''''काम वही रहे, लोग वही रहे। शहर में जो पहिले कायस्थ पार्टी थी, वह सब अब कांग्रेसी कहलाने लगे, गोल टोपी बदल कर गाँधी टोपी हो गई''' बाक़ी अचकन और चूड़ीदार पाजामा बरकरार रहा। कायस्थ पार्टी के रईस चूँकि कांग्रेसी हो गए इसीलिए खत्री पार्टी के रईस मजबूरन सोशलिस्ट पार्टी में हो गए। ब्राह्मण पार्टी के लोग जनसंघ, हिन्दू महासभा और रामराज परिषद में खप गए। अखाड़े वही रहे, चेहरे नए लग गए। जो पहिले कौम की तरक्की का नारा लगाते थे अब वही सब गाँधी बाबा की, किसान मजदूर की, भारत की अखंड एकता की जै जैकार मनाने लगे।

अब मैं खाली नहीं रह पाता कि कुछ चैन की साँस लूँ। आए दिन एक न एक हंगामा मेरी छाती पर मचता ही रहता है। आज अमुक की जयंती है तो कल अमुक नेता की वर्षगाँठ है! आज मानवता दिवस है तो कल संस्कृति दिवस है। किसी दिन फ़ुर्सत नहीं। किस दिन किस वक्त खाली हूँ, इसकी चिन्ता दूसरों को इतनी रहती है कि मुझे सोचने का अवसर ही नहीं मिल पाता। पर इन मीटिंगों का जो नक्शा मुझे दिखाई पड़ता है, वह मुझे बड़ा ही रस देता है। जिन कुछ मीटिंगों में सिर्फ़ पाँच-छः आदमी होते हैं जो पारी-पारी से उठ कर मंच पर भाषण देते हैं, उसी मीटिंग की रिपोर्ट दूसरे दिन अख़बारों में लोगों को पढ़ते सुनता हूँ "टाउन हाल में एक महती सभा हुई जिसमें अनगिन लोगों के समक्ष अमुक-अमुक पाँच वक्ताओं'ने सारगर्भित भाषण दिए।" काश मेरे पास ज़बान होती।

यहाँ की ठाकुर पार्टी के एक चेयरमैन हुए। वे साहित्यिक थे—यानी वकालत करते थे और साथ-साथ ब्रजभाषा की कविताई भी। मुशायरे के जवाब में उन्होंने यहाँ सूर जयंती मनाई। पर ठाकुर साहब

को राजनीति में घुसने की चाहना थी सो उस 'सूरजंयती के उद्घाटन के लिए एक नेता बुलाए गए। वे नेता महोदय मजदूर मन्डल में विदेश हो आए थे। सूरजंयती के भाषण में उन्होंने अपनी उस विदेश यात्रा की चर्चा की और अन्त में कहा कि विदेशों में सूरदास 'पापुलर' हैं। और पापुलर इसीलिए हैं कि उन्होंने उस समय कि देश की दशा को अपनी कविता में उतारा था। बड़े-बड़े साहित्याचार्य और विद्यालय के अध्यापक बैठे हुए उस भाषण की प्रशंसा करते रहे। यह जो आप एक किनारे सूरदास बाबा का चित्र देख रहे हैं, वह उन्हीं नेता महोदय के कर कमलों द्वारा अनावृत हुआ था। 'चिरंजीवि रानी व राजा' पढ़ने वाले कवि जी ने इस अवसर पर उन नेता की प्रशंसा में एक कविता सुनाई थी। अब वे कवि जी सुनते हैं राजधानी में बुला लिए गए हैं।

वर्षगाँठ और जन्मोत्सव की सभाएँ तो इतनी होती रहती हैं कि अब उनकी गिनती करना भी मेरे लिए संभव नहीं रह गया है फिर भी उनमें जो प्रस्ताव पास हुए हैं वह मुझे एकदम याद हैं क्योंकि वह सदा एक ही रहते हैं। बड़े लोगों के जन्मदिन पर अब बच्चों को बुलाकर उनका खेल कूद कराने का एक फैशन चल निकला है ''यह दृश्य भी बहुत बार देख चुका हूँ। शोक-सभाओं की संख्या भी कम नहीं है। वर्षगाँठ की सभाओं की अपेक्षा शोक सभाएँ मुझे अधिक रोचक लगती है। मैं देखता हूँ कि बाहर बरामदे में खड़े हुए लोग ठहाके मारते रहते हैं पर ज्यों ही वे मंच पर बोलने के लिए पहुँचते हैं कि ऐसा लगता है कि मानों इनकी सगी माँ मर गई हों—'भरे गले से, आँसू पोछते हुए जब वे दिवंगत आत्मा की शान्ति के लिए प्रार्थना करते हैं तब सचमुच मुझे वह नाटक देख कर बड़ा आनन्द आता है। एक बार की शोक-सभा में चार वक्ताओं ने अपनी मंजी हुई शोक-सभा स्पीच की बानगी दिखाई थी पर उनमें से किसी को भी बेचारे मरने वाले का नाम याद नहीं रह गया था। अन्त में सभा के संयोजक ने ही दिवंगत आत्मा का नाम लेकर उद्धार किया।

इधर कुछ दिनों से मैंने जो नई बातें देखी हैं उनमें सबसे ज्यादा चकित मैं औरतों की मीटिंग देख कर हुआ। अब तक दो-चार बार औरतें मर्दों के साथ यहाँ आती रहती थीं पर यह शायद पहिला मौका था जब औरतों ने ही अपनी सभा यहाँ की थी। जब मंच पर से उनकी महिला नेता मेज़ पर मुट्ठी पटक कर कह रही थी···"बहिनों, अब वक्त आ गया है जब हमें भी राष्ट्र निर्माण के लिए अपना सब कुछ लगा देना होगा" तब दीवार के पास बैठी हुई महिलाएँ आपस में पूछ रही थीं. "यह धोती तुमने कहाँ खरीदी ? लाल ब्रदर्स के यहाँ तो जरी के काम की चीज़ें मिलती नहीं ?"·· और जब उनकी नेता गला फाड़ कर कह रही थीं, "हमें अपने देश को फिर से स्वर्ग बनाना होगा, जात-पाँत का भेदभाव मिटाना होगा, नई दुनियाँ बनानी होगी' तब दीवार के पास बैठी हुई वे महिलाएँ कह रही थीं, "बहिन जी अब इस उमर में आकर भाई हर ऊँच-नीच के हाथ का पानी पीकर हमें बेधरम थोड़े ही होना है। इसीलिए हमने अपना नौकर निकाल दिया है। कोई दूसरा अच्छी जात का नौकर मिले तो बताइएगा। आजकल नौकर के बिना बहुत तकलीफ़ होती है। बाहर आने-जाने का काम हो ही नहीं पाता। नौकर मगर हरिजन न हो।···" जब उनकी मीटिंग खत्म हो गई तो उनके छोटे-छोटे गुट बन गए और वे बड़े प्रेम से उन महिला नेताओं के बारे में कह रहीं थी, "जरा देखो। आँखों में हया रह ही नहीं गई है। कितना हाथ चमका कर बोल रही थीं··"

इन सभाओं के रूप रोज बदलते रहते हैं पर मैं वही रहता हूँ, मंच वही रहता है, मेज़ वही रहती है, और बोलने वाले वही रहते हैं। शहर में कुल जमा चार आदमी हैं जो एक तरह के पेशेवर सभापति हैं। वर्षगाँठ से लेकर शोक सभा तक, मानवता दिवस से लेकर स्वाधीनता दिवस तक, सूरजंयती से लेकर गाँधी जंयती तक वही सभापति होते हैं। सदा वे सबके भाषण को शांतिपूर्वक सुनने का अनुरोध करते हैं और अन्त में उस सभा के महत्व पर प्रकाश डालते हैं। जिस तरह सभापति 'फ़िक्सड' हैं उसी तरह बोलने वाले भी चिरंतन हैं। वही छः-सात मूरतें। इनमें से दो एक

से तो मेरा अच्छा परिचय हो गया है। ये बिला नागा हर सभा में बोलने के लिए आते हैं। पान खाए, सिल्क का कुरता और खद्दर की धोती पहिने छल्लेदार घड़ी की चेन को बोलते समय बराबर खिसका-खिसका कर 'एडजस्ट' किया करते हैं। मैं दावा करता हूँ कि वे उन्नतिशील खेती तथा सूरजयंती पर एक जैसी भावुकता के साथ बोल सकते हैं। उनकी हर स्पीच मुझे याद है, उसकी एक टेकनीक है। भाषण के पहिले पैरा में वे संयोजकों को धन्यवाद देते हैं कि उन्हें बोलने का मौका मिला। दूसरे पैरा में वे 'भारत देश की अतीत गरिमा और संस्कृति' पर कुछ कहते हैं। तीसरे पैरा में वे 'विश्व में भारत का स्थान' पर प्रकाश डालते हैं। चौथे पैरा में वे 'भारत की वर्तमान अवस्था' पर ग्लानि प्रकट करते हैं। और हर भाषण के इसी चौथे पैरा में उनके आँसू निकल आते हैं। फिर पाँचवे पैरा में वे सभापति की नेतृत्व की तारीफ़ करते हुए लोगों से आगे बढ़ने की अपील करते हैं और अन्त में ज़्यादा वक्त ले लेने के लिए क्षमा याचना करते हुए बैठ जाते हैं। उनकी भाषण की साधना जबर्दस्त है। हर बार हर सभा में आने का लाभ उन्हें यह मिलने लगा है कि जब कभी मनोनीत सभापति के आने में देरी होती है तो उन्हें काम चलाऊ प्रेसीडेंट बना कर बिठा दिया जाता है। काम चलाऊ प्रेसीडेन्ट के रूप में न जाने कितनी बढ़िया मालएँ वे बटोर ले गए हैं। पिछली बार जब वे उन्नतिशील खेती के बारे में भावुकतापूर्ण स्वरों में बोल रहे थे तब उन्होंने कहा था कि वे एक बोरा पुरानी माला कम्पोस्ट खाद बनाने के लिए दान करने को तैयार हैं। उनका यह दान सुनकर लोगों ने खूब तालियाँ बजाई थीं।

ज्यों-ज्यों मेरी छाती पर लटकने वाली फोटो और तस्वीरों की संख्या बढ़ती जा रही है त्यों-त्यों मैं समझता हूँ कि युग उन्नतिशील है। यह सब मेरी छाती पर मैजिक मास्टर के मेडल की तरह लटकी हुई हैं। इनमें से किसी में आप उस नींव के पत्थर का चित्र देख रहे होंगे, जो नींव-मंत्री ने रक्खी थी और आज तक वह इमारत पूरी नहीं हुई है। किसी में आपको यहाँ के चेयरमैन साहब सिटी फ़ादर्स के साथ श्रमदान सप्ताह के सिलसिले में

फावड़ा लेकर फोटो खिंचाते दिखाई पड़ रहे होंगे। फोटो तो मेरे पास जमा हैं पर इसके बाहर ये क्या हैं, मैं जान नहीं सकता।

कुर्सियाँ मेरे पास बहुत हैं पर ये जो आप सिर्फ़ रद्दी कुर्सियाँ ही यहाँ देख रहे हैं, उनका राज़ यह है कि अच्छी वाली कुर्सियाँ चेयरमैन साहब के यहाँ रहती हैं। और सफ़ाई यूँ तो काफ़ी रखने की कोशिश की जाती है पर यह जो आप पान की पीक इधर-उधर देख रहे हैं यह 'सिटी फ़ादर्स' की मीटिंगों की देन है। पर मैं इस पर आपत्ति करूँ भी तो क्या ? आज-कल लोग किस पर नहीं थूकते ?

●

प्लास्टिक के हाथ

"ठीक है यहीं रोक दो। चौदह नम्बर का बँगला यही है।"

टेक्सी वालेको रोकने के लिए कहते मैंने देखा कि उस बँगले के एक फाटक पर पालिश की हुई खूबसूरत लकड़ी से टुकड़े पर 'विहंग' लिखा हुआ था! सामान उतार लिया। इस लम्बी चौड़ी इमारत में कई फ्लैट थे। तीसरी मंजिल पर मेरे मित्र बाबू दुखहरनसिंह उर्फ विहंग जी रहते थे। दरवाजे पर दस्तक दी यानी कालबल बजाई। सफेद कपड़ों में लैस एक आधुनिक ढंग का नौकर बाहर निकाला! प्रश्नवाचक मुद्रा से उसने मुझे सामान लिए दिए देखकर कहा—

"शर्मा जी?"

मैंने कहा—"हूँ"!

"सामान भीतर लाइए। साहब भी किसी से बहुत जरूरी काम से मिलने गए हैं। अभी आने को कह गए हैं। आपका इंतजार कर रहे थे।"

तीन कमरों का छोटा सा फ्लैट था। मुँह-हाथ धोकर मैं बैठक में बाबू दुखहरनसिंह की प्रतीक्षा करने लगा। यह बैठक कुछ अजीब थी—कमरे में चारों ओर 'साक्षर बनो' के योजनावाले आर्ट पेपर पर छपे हुए पोस्टर लगे हुए थे जिनमें छोटी-छोटी पाठशालाओं में बच्चे पढ़ते हुए दिखाई पड़ रहे थे! शीशे की एक बन्द आल्मारी थी जिनमें कई रंग की कुछ

छोटी, कुछ बड़ी थैलियाँ अलग-अलग डोरियों में बँधी हुई झूल रही थीं। थैलियों के ठीक नीचे बहुत सी किताबें थीं, जिन्हें गौर से देखने पर पाया कि उनमें अधिकांशतः सरकारी गजट, योजना की रूपरेखा, कमेटियों की रिपोर्ट तथा अनेक पैम्फ्लेट भरे थे! कमरे में भीतर की तरफ़ जानेवाले दरवाजे के पास एक लकड़ी के खूबसूरत स्टैण्ड पर एक मैना बैठी हुई थी! एकदम बुत जैसी—पर निकट से देखा—शायद जीवित ही थी! मैं कुछ चक्कर में था। तमाम चीजों की संगति नहीं बिठा पा रहा था! तब तक दीवार पर निगाह गई। एक कील के सहारे एक पेटी लटक रही थी जिसमें दो असली हाथ झूल रहे थे। छूकर देखा, किसी कारीगर ने प्लास्टिक के हाथ बनाए थे जो देखने में एकदम असली जैसे ही लगते थे! मुझे उस कमरे में बैठे-बैठे जासूसी उपन्यासों का सेंसेशन होने लगा था। घबराकर दूसरी तरफ़ निगाहें कर लीं। इधर दीवार पर फोटोग्राफ के इन-लार्जमेंट थे, जिनमें किसी न किसी उत्सव में विहंग जी किसी न किसी नेता के साथ मुस्कराते हुए दिखाई पड़ते थे। सब चित्रों से ऊपर एक तीनरुखी तस्वीर थी। एक ओर से देखा-लिखा था—'साहित्यकार की स्वतन्त्रता' दूसरी ओर से देखा—'राजनैतिक अनुशासन' और बीच में से होकर पढ़ा—'साहित्य और राजनीति ही मानव मूल्यों को बदलते हैं।' हर नए एंगिल से कुछ नई बात दिखाई पड़ती थी! एक किनारे की मेज पर मैसूर के बने सफेद हाथियों की एक पाँत थी जो क्रम से छोटी होती चली जाती थी। सबसे छोटे हाथी के बाद उसी क्रम में दुखहरन सिंह की एक फोटो लगी थी!

"बेचारे दुखहरन को क्या हो गया है और दरअसल इसका धंधा अब क्या है,' यही मेरे लिए इतनी देर में घोर चिन्ता और साथ ही जिज्ञासा का विषय बन गया था। दुखहरनसिंह को मैं बहुत दिनों से जानता था। वे नवें दर्जे तक मेरे सहपाठी थे। अर्थमेटिक ने जब उनकी टाँग ग्राह की तरह पकड़ ली तब उन्होंने मेरे ही शहर के एक वाहियात पाक्षिक अखबार का अवैतनिक सम्पादन करना शुरू कर दिया। पाक्षिक

पाँच पन्ने का होता था जिसमें स्थानीय म्युनिसिपैलिटी की शिकायतें, कचहरी की नोटिसें और दुखहरनसिंह उर्फ 'विहंग' जी की कविताएँ छपती रहती थीं। दुखहरनसिंह का जब पहिला कविता संग्रह उसी प्रेस से छपा तब उन्होंने मुझे भी उसकी एक प्रति भेंट की थी। मैं साहित्यिक तो नहीं था पर साहित्य और साहित्यकारों के प्रति बचकाना अनुराग मेरे अन्दर बराबर था। दुखहरन के चाचा खद्दर भंडार में काम करते थे, इसलिए दुखहरन भी बराबर खद्दर ही पहनते थे। बहरहाल कविता के क्षेत्र में ख्याति फैलने लगी—स्थानीय से प्रान्तीय और देखते-देखते वे अन्तर्प्रान्तीय मासिक पत्रों और साप्ताहिकों में छा गये।

मैं शक्कर की एक मिल में काम पाकर बाहर चला गया था पर साहित्य में उसी बचकाने अनुराग के नाते न सिर्फ पत्र-पत्रिकाएँ पढ़ता रहा बल्कि साहित्यकारों के जीवन में भी खासी दिलचस्पी रखता रहा। दुखहरन के भाग्य से मुझे बड़ी ईर्ष्या होती। चिट्ठियाँ लिख कर दुखहरन से अपना पुराना अनुराग फिर चालू किया। दुखहरनसिंह साहित्यिक नगरी छोड़ कर अब दिल्ली आ गये थे। दिल्ली सभा के मुहर वाले लिफाफे में विशुद्ध काका कालेलकर मार्का टाइप की हुई हिन्दी में उन्होंने मुझे दिल्ली आने का निमंत्रण दिया था। मेरी मिल का इन्कमटैक्स का एक मामला फँस गया था। दिल्ली पहुँच कर उसे सुलझाना था। इसीलिए दुखहरन के पास आया हुआ था।

कमरा देख कर और अपने दुखहरन का मासूम चेहरा सोच कर मेरी तबियत खासी परेशान थी। सोफे पर आकर फिर बैठ गया। रंगीन खद्दर की बढ़िया छींट सोफे पर चढ़ी हुई थी। नये ब्लेड से बनायी हुई हजामत की तरह सोफे पर हाथ फेरने से जरा भी खुरखुराहट नहीं मालूम होती थी।

"अरे तुम आ गये?"

दुखहरन की आवाज थी! मैंने चौंक कर पीछे देखा। शायद वह दुखहरनसिंह ही थे। बराह महीने के दिल्लीवास ने उनका नक्शा बदल दिया था। उनका वह दीनहीन अपाहिज-सा चेहरा खासा भारी भरकम

और दबंग लगने लगा था। महीन बुर्राक खद्दर की धोती, महीन खद्दर के कुरते और सफेद मक्खन सी जवाहर-जैकेट ने उनकी छवि उभार दी थी! पैरों में फेदरवेट वाली हल्की शांतिपुरी चप्पलें, सिर पर फुला कर सिर्फ एक बार पहिनी जाने वाली टोपी, चुस्त और 'विलेन' मार्का छोटी-छोटी कटी मूँछें, अँग्रेजी ढंग के छंटे हुए बाल—सब कुछ मेरे जाने-पहचाने विहंग जी से अलग कर देता था! लगता था कि उनकी सिकुड़ी-मिकुड़ी पर्सनालिटी पर किसी ने 'आयरन' कर दिया था!!

मैं ठगा-सा देख रहा था। बाबू दुखहरन सिंह टोपी को हैट की तरह बहुत सम्हाल कर उतारते हुए सोफे पर बैठ गए—

"तो आखिर आप दिल्ली चले ही आए!"

"हाँ।" मैंने कहा, "भई इन्कम टैक्स का मामला कुछ फँस गया है। सुना यहाँ तुम्हारी अच्छी पहुँच है। इसीलिए चला आया हूँ। मिल-मालिकों को मेरे ही ऊपर भरोसा है! काम किसी तरह हो जाना चाहिए!"

"अरे अब आए हो तो दम ले लो। सब ठीक हो जायगा।" वे हँसे।

"और कहो दुखहरन! दिल्ली में कैसी कट रही है?"

"कट क्या रही है, मुझे यहाँ बुला लिया है। अब आगे शायद पार्लियामेन्ट में भी बुला लें! मुझे तो भई, यह सब अच्छा नहीं लगता है पर क्या करूँ। हमारे पंडित जी भी चाहते हैं, इसलिए शायद जाना ही पड़ेगा!"

"चलो भाई! इतने दिन तुमने मुसीबत से काटे! रायल्टी तक ठीक से मिलती नहीं थी! अब कुछ ठिकाना हो गया है, मौज करो! ठाठ से साहित्य-सेवा किये जाओ! दो-तीन उपन्यास और लिख डालो। तुम्हारे पिछले उपन्यासों की बड़ी चर्चा होती है!

दुखहरन हँस कर बोले—

"साहित्य सेवा की अच्छी कही! यहाँ कमेटियों के मारे नाकों में दम हैं। उन्हीं से फुर्सत नहीं मिलती। भाड़े-भत्ते की तो परवाह नहीं है पर लोग बुरा मानते हैं कि विहङ्ग जी कमेटी में आए नहीं! हार कर जाना ही पड़ता है!"

"खैर ! वह भी भी तो राष्ट्र-निर्माण का ही काम है भाई!" मैं बोला !

"हाँ वही समझ कर तो कर ही रहा हूँ ! अब तुम्हीं देखो कि अभी पन्द्रह पुस्तकों पर तो मुझे भूमिकाएँ लिखनी हैं। वह देखो ढेर !" उंगली से एक ओर दिखा कर उन्होंने अपना भाषण जारी रखा, 'हमारे यहाँ के साहित्यकारों में अभी यह चेतना नहीं आयी है कि 'लाइफ' में अपने आपको 'पुश' कैसे करना चाहिए ! वह तो राजनीति से दूर भागते हैं ! अजी शर्मा जी ! साहित्य, आगे चल कर राजनीति का ही तो निर्माण करता है ! उस तिनरुखे चित्र में तीनों ही बातें मेरे विश्वास को प्रकट करती हैं ! दरअसल, राजनीति साहित्य को 'पुश' करती है ! साहित्यकारों के अगले सेमिनार में इस बात को जरा जोर से मुझे कहना है !"

मैं हुँकारी भर रहा था, वे कह रहे थे—

"अभी तो मुझे भी शायद एकाध डेलीगेशन में बाहर जाना पड़े। विदेश जाने के लिए मेरी 'हेल्थ' 'सूट' नहीं करती है फिर भी मंत्री मित्रों का इसरार है, शायद जाना ही होगा ! क्या किया जाय ! अब तक देखिए कितने फिल्मी सितारे, खिलाड़ी, पत्रकार और प्रोफेसर डेलीगेशन में बाहर हो आए पर साहित्यकार···? वह तो इस काबिल ही नहीं समझा जाता कि उसे कहीं 'प्रेजेंट' किया जाय ! देखो, अब मैं कोशिश कर रहा हूँ कि मैं बाहर जाऊँ तो एकाध को और भी लेता जाऊँ ! !'

दुखहरन की बातों में हुँकारी भरते-भरते अब ऊब लगने लगी थी। उनकी 'टोन' मेरे गले के नीचे न उतरी। मैं उठ कर भीतर के बरामदे में आ गया।

"घर तुमने अच्छा सजाया है दुखहरन !" मनीप्लांट की बेल को देखते हुए मैंने कहा मेरा वाक्य पूरा होते न होते मुझे सुनाई पड़ा—

"आप ठीक कहते हैं !"

"लेकिन अगर तुम अपनी बैठक उधर रखते तो बहुत अच्छा होता !"

"आप ठीक कहते हैं !"

"खैर ! यहाँ भी अच्छा है।"

"आप ठीक कहते हैं।"

"क्या मतलब ?"

मैंने पलट कर देखा। कमरे के दरवाजे के पास 'स्टैंड' पर बैठी हुई मैना ने मेरा संदेह निवारण करते हुए दोहराया—

"जी हाँ, आप ठीक कहते हैं!"

मैना को बहुत कुछ सिखलाते लोगों को सुना था, पर यह वाक्य ही दुखहरन को क्यों भाया ? दुखहरन ने मेरी मौन शंका का समाधान हँस कर स्वयं ही किया—

"भई तुमसे क्या परदा है ! यह मैं नहीं, मेरी मैना बोल रही थी। दिन भर मीटिंग, सभाएँ और हंगामा—मेरी जान की मुसीबत रहती है। बस इसे साथ लेता जाता हूँ। एक चुप और हजार बला से छुट्टी ! नहीं तो भई, किस-किस के मामले की सिफारिश करो ! रोज एक न एक खड़ा है ! बस जनाब यूँ कहिए कि कुछ कहना-सुनना न हो तो तान कर सोइए ! मैना सब काम पूरा कर देती है !"

दुखहरन की बुद्धि इतनी तेज है, इसका विश्वास इससे पहले कभी नहीं हुआ था। वे बोल रहे थे—

"इसमें एक बात और है ! कम से कम मेरी साहित्यिक अन्तरात्मा कभी कुंठित नहीं होती कि मैंने किसी गलत चीज के लिए हुँकारी भरी है। आई गई सब मैना के सिर समझता हूँ !"

"पर इसे ले कैसे जाते हो ?"

"शर्मा जी ! दिल्ली में यदि आप चौंका कर न चलिए तो कोई आपको टके को भी न पूछे ! मैं इसे हाथ पर बिठा कर चलता हूँ—ठीक उसी तरह जिस तरह पहिले नवाब लोग कबूतर और बाज हाथ पर बिठा कर चलते थे ! विहंग जी के अर्थ ही है कि मैना जा रही है ! मीटिंग में इसे जेब में रख लिया और फिर भई मेरी नींद में कोई बाधा नहीं देता !"

दिल्ली के बहुत बड़े-बड़े जादू सुने थे पर आँख से कभी देखा न था !—

दुखहरन ने मेरी बड़ी आवभगत की। मेरा चोला असली राजसुख

जिंदगी में पहली बार पाया था ! सुदामा और कृष्ण की मित्रता से अपनी दोस्ती मिला रहा था ! सोते समय तक हम दोनों पुराने सहपाठियों की, बाल-बच्चों की, साहित्यिक नगरी के पाक्षिक की और इधर-उधर की तमाम बातों की चर्चा करते रहे !

दूसरे दिन सुबह नाश्ता करते समय दुखहरन ने बताया कि दिल्ली में महत्व प्राप्त करने के लिए किसी आंदोलन का नेता होना बड़ा जरूरी है। इसीलिए उन्होंने एक आंदोलन चलाया है जिसमें तमाम साहित्यकारों, विचारकों और मनीषियों से उन्होंने अपील की है कि वे अपनी 'बुद्धि-दान' करें ! तर्क यह था कि बेकार की बुद्धि पास रखने से लोग राष्ट्र-निर्माण के कार्य में रोड़े अटकाते हैं और हर जगह अपनी बुद्धि लड़ाते हैं। इसलिए (जब तक दुबारा आवश्यकता न पड़े !) सब को अपनी बुद्धिदान कर देनी चाहिए ! विहंग जी की अपील पर जिन विचारकों और साहित्य-कारों की बुद्धि प्राप्त हुई थीं वे सब अलग अलग थैलियों में आलमारी में बन्द टंगी थीं ! थैलियों का राज़ अब मेरी समझ में आया।

मेरे लिए यह सब कुछ गोरखधन्धा था !

इनकमटैक्स का मामला मैं भूला नहीं था। बाबू दुखहरन सिंह जल्दी-जल्दी तैयार होने लगे। आज उन्होंने बन्द कालर का सफेद कोट और पतलून धारण किया। दुखहरन को कोट-पतलून पहिने देखकर बड़ा अचरज हुआ। पर कौन अचरज बड़ा था और कौन छोटा था, इसे कहना कठिन हो रहा था ! कोट-पतलून पहिन कर उन्होंने खूँटी पर से प्लास्टिक के दो जुड़े हुए हाथ नीचे उतारे। फिर उन्होंने उस पेटी को कोट के नीचे कमर में बाँध ली। दुखहरन ने मुस्करा कर जैसे ही जेब में हाथ डाला त्यों ही वे प्लस्टिक वाले हाथ अभिवादन की मुद्रा में उठ गये ! मुझे पसीना छूटने लगा। लगा की अब कोई जासूसी उपन्यास की घटना घटेगी ! दुखहरन के साहित्यिक व्यक्तित्व पर जासूसी उपन्यासों का प्रभाव देख कुछ भय लगने लगा। तब तक दुखहरन ने मेरा दुख हर लिया—

"भाई घबड़ाओ नहीं ! यहाँ दिन भर हर एक को सलाम करना

पड़ता है। दिल्ली नगरी बुरी है भइया ! न कीजिए तो पता नहीं सीधे-सादे वेश में कौन महान नेता निकल आए और आपकी मुसीबत कर दे ! प्लास्टिक के ये हाथ मेरी बड़ी मदद करते हैं। अब जहाँ कोई नेता वेश में दीखा कि मैंने जेब में हाथ डाल कर चट स्विच दबाई और ये दोनों हाथ अभिवादन के लिए उठे !"

राबर्ट ब्लेक दिल्ली में पैदा हुए होते तो क्या करते, मैं सोच रहा था !

दुखहरन को साथ लेकर मैं इनकमटैक्स वालों से मिला। उनकी अच्छी दोस्ती थी। मेरा काम हो गया। प्लास्टिक वाले हाथों ने काफी करामात दिखाई। हर जगह नकली अभिवादन और बेभाव वाली मुस्कराहट दुखहरन को कितना महत्वपूर्ण बना सकी है, यह उनके साथ घूम कर ही पता चल सकता है !

अस्तु ! विहंग जी ने जिस तरह मेरा काम कर दिया, उन्हें उसके लिए मैं सहस्र मुख होकर भी धन्यवाद नहीं दे सकता ! उन्हें किसी पुरस्कार-कमेटी में जाना था, वे अपनी मैना लेकर चले गये। मुझे शाम को वापस जाना था, घर पर रह गया।

सामने की आलमारी खुली हुई थी। थैलियाँ लटक रही थी। इतनी सारी साहित्यिक-बुद्धि ! मेरी ईर्ष्या जाग उठी। ईमान डगमगा गया। जल्दी-जल्दी सब थैलियाँ बटोर कर सूटकेस में भर लीं। विहंग जी को फौरन धन्यवाद का पत्र लिखकर स्टेशन चला आया !

मुझे भय है कि शायद मैं विहंग जी की भी बुद्धि अपने साथ लेता आया हूँ। वे कमेटी में जाते समय शायद अपनी थैली भी आलमारी में ही लटका गये थे ! बाकी थैलियों की परीक्षा करने पर मुझे बड़ी निराशा हुई है— अधिकांश थैलियों में सिर्फ़ भूसा निकला है, कुछ में तो सिर्फ़ सड़ा हुआ गोबर ही मिला ! मुझे सन्देह है कि जिस तरह भूदान में बहुतों ने बंजर और ऊसर भूमि का दान दे दिया है उसी तरह विहंग जी के साथ भी ऐसी हरकत की गई है ! बहरहाल वे थैलियाँ मेरे लिए बेकार हैं। जो साहित्यकार और विचारक अपनी थैली वापस मँगाना चाहें वे मुझसे पत्र-व्यवहार कर सकते हैं ?

कलाकार और चूल्हा

शब्दों का अर्थ समझने के लिये अगर डिक्शनरियाँ न बनाई गई होतीं, तो हो सकता है कि उनका अर्थ आसानी से लोगों की समझ में आ जाया करता। इतना तो तय है कि उनका जो अर्थ हम आप बतला सकते हैं वह बड़े-बड़े कोष या डिक्शनरियाँ तो कभी भी नहीं बता सकतीं। दूर न जाइए। "कलाकार" शब्द को ही लीजिये। इधर आपने "कलाकार" का नाम लिया नहीं और उधर आप की आँखों के सामने एक ऐसे जीव का नक्शा खिंचा जो ऊपर से नीचे तक अजीबोग़रीब वेश-भूषा में लिपटा है ? कुर्ता है तो उसका गला ऐसी काट का कि जैसा कुर्ता मौत के कुएँ में मोटर साइकिल चलाने वाले पहिनते हैं, धोती ऐसी कि बार-बार पैजामा समझने का भ्रम हो लेकिन हर बार भ्रम दूर हो, गले का दुपट्टा जैसे गला ढँकने के लिये नहीं बल्कि बनारसी गोटे के काम का साइनबोर्ड हो जो कुशल लापरवाही के साथ गले में डाला गया है, आँखों को ऐसा बनाकर रखने की कोशिश कि "जेहि चितवत एक बार, सो जियत मरत झुकि-झुकि परत," जिस पर एक मोटे फ्रेम का चश्मा जो उनकी सही सलामत आँखों को बिगड़ने में क्रमशः तत्पर रहता, हाथों को धीरे-धीरे इतना घुमा-फिरा कर बात करने की आदत कि सुनने वाले को लगे कि बातों को तह से निकालने के लिये ही वह हाथों को इतना नीचे ले

जाकर ऊपर लाते हैं, बालों को बढ़ने की पूरी छूट दिए रहने का भ्रम देते हुये भी "हेयर ड्रेसर" से उन्हें छँटवाना और इतनी फ़ीस देकर ड्रेस कराना जिसके एक-तिहाई पैसों में कोई भी नाई उनकी सूरत आदमी जैसी बना सकता, हवा लगने से हिलने-डोलने विचरने के लिये कुछ बालों को हेयर क्रीम से बिना चिपकाए छोड़ा हुआ ताकि उन्हें सजाने और व्यवस्थित करने के लिये हाथ को कलात्मक ढंग से घुमा कर उठाने का सुनहरा मौका अक्सर मिलता रहे। चाल ऐसी कि अगर दूल्हों का एक ट्रेनिंग क्लास खोला जाय तो वे चाल के शिक्षक अपनी अर्ज़ी देते ही मात्र योग्यता के बल पर ले लिये जायँ; ऐसी चाल से, प्रख्यात है, बताशे बिछाकर भी चलने से बताशे टूटते नहीं। पैरों में गोजर से लेकर साँप तक की खाल तक की चप्पलें हर गोष्ठियों में एक-एक कर बदलती हुई, हाथों में एक खूबसूरत पोर्टमैंटो, छोटा-मोटा बैग, एक सिरे से दूसरे तक मुर्री या ज़िप लगी हुई जिसके अन्दर एकाध पुस्तकें, दस-पाँच पर्चे, कुछ कागज़ात कुछ विज़िटिंग कार्ड, एकाध लेटर पैड, सुनहरी टोपी वाले एकाध फाउन्टेनपेन, चित्रकार हुये तो कुछ अपने स्केच, कुछ कागज पत्तुर, दो एक रंगीन पेंसिलें, दो-चार, दस-पाँच पुराने निमंत्रण जिनमें वे भाषण करने या कविता पढ़ने गए हों, ग़रज यह कि अंगड़-खंगड़ सभी जो वह आसानी से अपने साथ लादे-लादे लिये चल सकते हैं, अधजली सिगरेट को मुँह में दबा कर पकड़ने और धुएँ के गोल-गोल छल्ले बनाकर उड़ाने की फ़ुर्सत, उठेंगे तो ऐसे जैसे कमर मेहनत के मारे दोहरा उठी है और बैठेंगे तो लगेगा कि सारी त्रिभंगी मुद्राएँ और ठवनि आपको देख कर बनाई गई होंगी। यह तो होगा उनका नक्शा जो आपकी आँखों के सामने घूमने लगेगा और डिक्शनरी देखने आप उठे तो पता चलेगा कि "कलाकार" कोई बड़ा भारी भरकम जीव होता होगा जिससे कला नामक किसी चीज़ का वास्ता होगा।

अब चूल्हे पर आइए। चूल्हे का अर्थ अनर्थ करने की ज़रूरत नहीं है। ईंट, पत्थर रख कर उस पर अपनी हाँडी गरम करने के युग से लेकर

आज बिजली तक के बिना धुएँ वाले चूल्हे चले हैं जिनसे एक नुकसान यह हुआँ कि धुआ आँखों में लगने से जो यह पता चल जाता था कि किसकी सास किसे कितना चाहती हैं, सो अब बिना धुएँ वाले चूल्हे से यह परख करने की कसौटी ही हाथों से जाती रही। खैर कैसा भी हो, चूल्हे से परिचय कराने की ज़रूरत नहीं महसूस होती है जब तक भगवान का दिया हुआ पेट मौजूद है तब तक बिना चूल्हे के काम चलना बड़ा मुश्किल है। चूल्हा बेचारा, अपनी काया झुलसा कर दूसरे का पेट भरने को आतुर। मोटे मोटे लक्कड़ लगा दीजिये या कि पतली-पतली, सूखी-सूखी बिनी हुई डालें लगा दें, उसका काम जलना है और जल कर आपकी रोटी पका देना है। ऐसे चूल्हे मार्का इन्सान अक्सर मिलेंगे जिन्होंने अपनी जिन्दगी इसी तरह झुलसा-झुलसा कर दूसरों के पेट के लिये रोटियों सेंकी हैं। गौर कीजिये उन पर जिन्होंने अपनी हरकतों से इस मुहावरे का आविष्कार कराया है...."खिचड़ी पका कर खा चुके, चूल्हे मियाँ सलाम।" उन्होंने सलाम किया और चलते बने, चूल्हे मियाँ हैं कि वहीं रमे हैं कि कोई दूसरा आवारा आएगा तो वह भी अपनी रोटी सेंक लेगा।

आप कहेंगे कि "कहाँ की ईंट और कहाँ का रोड़ा" क्या कुनबा जोड़ा है....कहाँ कलाकार और कहाँ चूल्हा! लेकिन बात अजीब होते हुये भी अपनी-जगह पर बात है और अगर न कहना होता तो इतना तूल खींचने की भी भला क्या बात थी!

हुआ यह कि मेरे एक दोस्त महोदय ने एक दिन बेकारी से ऊब कर कुछ काम करने की सोची! बचपन की कुसंगत में पड़ कर उन्होंने पढ़ने लिखने को तलाक दे रक्खा था लिहाज़ा बहुत मारापीटी के बावजूद उन्होंने अपने हिसाब से वह एम० ए० पास कर लिया था जिसे स्कूली दुनियाँ में सेवेंथ क्लास कहा जाता है। इसलिये इस लियाकत के बल पर उनको कहीं भी नौकरी मिलनी कठिन थी! मजबूरी दर्जा उन्होंने कलाकार बनने की ठानी। इसके दो कारण थे...एक तो यह कि खाली बैठे से कुछ काम ही अच्छा और दूसरा यह कि लह गई तो चार रोटी मिलने का भी सवाल

हल हो जायगा।

अब उनके नक्शे बदले। बाल बढ़ाकर कलाकार बनने की तरकीब वह बहुत पहिले से ही जानते थे। सोचा, क्यों न गुरुदेव की तरह दाढ़ी भी बढ़ा ली जाय। उसका एक राज़ था। वैसे उनका व्यक्तित्व, खासतौर से चेहरा बहुत बेढंगा था। उसे छिपाने के लिये दाढ़ी से बढ़िया चेहरा सस्ते दामों पर मिलना बड़ा मुश्किल था। ढीले पाजामे और ढीले-ढाले कुरते गेरुए रंग में रंग कर तैयार कराए। पहन कर शीशे में देखा तो मामला हल्का दिखाई पड़ा। कुछ जमा नहीं। सोचा कि अब क्या करें? विलायती पोशाक में कोट-पतलून से भी ज्यादा जो चीज़ उन्हें प्रिय थी, वह थी ड्रेसिंग गाउन। बस उन्होंने उसे भी अपनाया। हाथ में एक पोंटमेंटो लिया। मेकअप तो पूरा हो गया मगर अब सवाल यह उठा कि वे किस दृश्य में प्रवेश करें।

कलाकार का मेकअप आप कर भी लें लेकिन मुश्किल तो तभी शुरू होती है क्योंकि कलाकार दफ़्तर का बाबू तो है नहीं कि दफ्तर की मेज़ पर बैठा और 'बाबू' बना। कलाकार की मुसीबत सब से बढ़ कर यह है कि उसे अपनी हरकतों से जनता का ध्यान किसी-न-किसी तरह अपनी ओर आकर्षित करना ही पड़ता है। इसके लिये कोई न कोई प्रवेश द्वार चुनना पड़ता है कि वह किसी दृश्य में फ़िट हो जाँय और लोग अगर उनकी तरफ़ घूर-घूर कर न सही एक बार उड़ती-उड़ती निगाहों से ही देख लें ताकि यह ज़ाहिर हो जाय कि वह भी उसी दल में पंख लगा कर ही सही, लेकिन घुसे हुये हैं!!

यही सवाल मेरे दोस्त के सामने एक प्रश्न चिह्न बनकर आ खड़ा हुआ। प्रेम करने के सिलसिले कभी-कभी दूसरों की लिखी हुई कविताएँ गुनगुना लेते थे। सोचा कि यदि वे संगीत के कलाकार बन जाँय तो उनका भविष्य उज्जवल है। लिहाज़ा भारतीय संगीत के पुनरुत्थान के लिये उन्होंने तानपूरा पकड़ा। सुना था कि असली गाना सीखना हो तो किसी उस्ताद को पकड़ कर गंडा बाँधना चाहिये। किसी तरह दान-

छक्के से कम नहीं उड़ाते। कोई यह नहीं पूछने आता कि भइया आपने कहाँ लिखना सीखा। लिखते हैं, यही बहुत है।

गरज़ यह कि उनका यह प्रयोग कामयाब रहा। वह लेखक हो कर निकले। सत्साहित्य का निर्माण करने लगे। सोचा, सभी लेखक एक जगह पर बैठकर लिखते हैं सो उन्होंने घूम-घूम कर लिखने का कार्यक्रम बनाया। और लगे घूमने। घूमने में उन्हें सबसे बड़ा लाभ यह मिला कि जहाँ पहुँचे वहाँ के बारे में दस-पाँच पन्ने रंग दिया। होते करते उनकी यह रंगाई छपने लगी और वे आपे से बाहर होने लगे।

सहसा उनको एक दिन यह झटका लगा कि उनका स्वास्थ्य बहुत गिरता जा रहा है और वे किसी भी तरह अपनी 'पर्सनैलिटी' को इस लायक नहीं बना पा रहे हैं कि जिस गोष्ठी में वे बैठें वहाँ वही वह दिखाई पड़ें। कलाकार और पहलवान में कहीं कुछ मौलिक अन्तर है, कोई बुनियादी फर्क होता है! कलाकार वह बन चुके थे मगर उन्हें पहलवान न सही, तन्दुरुस्त होने का ख़ब्त हो चुका था। कलाकारिता के चक्कर में पड़कर अपना खाना पीना तो उन्होंने होटल की शरण में अर्पित कर रक्खा था। सच भी यही है कि जो कलाकार बना वह पुख़्ता कलाकार बना और फिर भला उसे कहाँ चूल्हे से भेंट करने की फुर्सत। दोस्तों के यहाँ खा पी लिया, वहाँ चाँस या मौका न मिला तो होटलों में चाय पी कर दिन काटा, रात कहीं रोटी खाई, पड़ कर सो रहे।

मित्र महोदय को स्वास्थ्य की चिन्ता ज्यों-ज्यों बढ़ी प्रातः कालीन ब्राह्म बेला में उठकर स्वच्छ शुद्ध वायु के सेवन का शौक भी बढ़ा। कभी-कभी नंगे पाँव ओस से भरे घास के मैदानों तक दौड़ने की नौबत पहुँचती। आक्सीजन कारबन नाइट्रोजन और जाने क्या-क्या वक्त बेवक्त साँसों से निकालते थे और फिर साँसों में खींचते थे। छाती को इतनी हवा भर कर फुलाने की कोशिश करते कि एक-एक पसली की तस्वीर उभर आती। इसके बाद कमरे में ऊपर लटक कर, नीचे सिर लटकाकर, हर तरह की कला बाज़ियाँ करते। हर दूसरे चौथे अपना वज़न लेते

लेकिन कमबख़्त सुई ज़रा भी इधर से उधर न होती दिखाई पड़ती। लोगों के कहने सुनने से विटैमिन की सभी किस्में आज़मा कर देखा मगर कोई असर नहीं।

दो एक बुज़ुर्गों ने समझाया कि जबतक घर का पका अन्न न खाओगे तब तक देह पर माँस नहीं चढ़ने का। मित्र महोदय को बात जैसे लग गई।

बात लग तो गई लेकिन जैसे, लग कर अटक गई। घर में तो न जोरू और न जांता फिर भला घर का पका अन्न मिले तो कैसे। कोशिश करके जाँता इकट्ठा भी कर लेते लेकिन जोरू का प्रश्न तो महान समस्या ही थी। अनेक बार बहुत सी ऐसी बातें अपने लेखों में वे लिख चुके थे जिनका उन्हें कोई तजुरबा नहीं था। इन्हीं बातों में 'मर्द की हिम्मत' का भी ज़िक्र उन्होंने अक्सर किया था। अब की इसी हिम्मत की आज़माइश करने की उन्होंने ठान ली। घर में चूल्हा चक्की का इंतज़ाम करके उन्होंने स्वंय पाकी होने का शुभ निश्चय किया। कहा भी गया है कि हेल्थ बनाने का चक्कर जो न कराए, वह थोड़ा समझना चाहिये।

आस-पास में किसी का मकान बन रहा था। ईटों का ढेर लगा हुआ था। आँख बचाकर पहर रात गये आठ ईटें उठकर मित्र महोदय के घर में आ गई। दूसरे दिन सुबह से चूल्हा बनाने का कार्यक्रम शुरू हुआ। पहिले तिकोना चूल्हा बनाया गया लेकिन लकड़ी ठीक से रखने की गुंजाइश न रहने की वज़ह से उसे तोड़ कर दूसरी शक्ल दी गई। लिहाज़ा अब वह 'वी' की जगह अँगरेज़ी के 'यू' अक्षर की तरह बना।

वैसे ये 'कलाकार' कला को सिर्फ़ एक शग़ल समझ कर जुटे हुये थे और उसे सिर्फ़ कला के लिये ही इस्तेमाल करते थे। चूल्हा चूँकि रोटी पकाने का प्रतीक था इसलिये चूल्हे से उन्हें सख़्त नफ़रत थी। घर में इस किस्म का धुआँ धक्कड़ उन्हें नापसन्द था लेकिन किया क्या जाता, स्वास्थ्य बनाने के लिये यह ज़रूरी था कि वह चूल्हे से जूझते।

एक फूँक, दो फूँक तीन फूँक....मगर चूल्हा जलने का नाम नहीं लेता। लकड़ी धुआँ देकर गुमसुम हो कर ऐसे पड़ गई थी जैसे कोई भीगी हुई

सिगरेट हो। उधर बटलोई में पड़ा हुआ चावल यह बाट देख रहा था कि कब लौ फूटे और कब वह चूल्हे पर सवारी गाँठे। मगर वह नौबत न आई। चूल्हा न जला।

दूसरे दिन अपना दुख फिर दूसरों को सुनाया। कितनों ने समझाया कि झंझट छोड़ कर वह होटल में खाएँ। एक ने कहा कि स्टोव पर खाना पकाएँ तो दूसरे ने कहा कि स्टोव पर पके हुये खाने में सब विटामिन खत्म हो जाते हैं इसलिये भोजन तो लकड़ी पर ही पका हुआ होना चाहिये। एक ने कहा चूल्हे पर पका हुआ ही भोजन करना है तो शादी कर लो। घर पहुँचते ही पका पकाया खाना मिलेगा। हेल्थ की हेल्थ बनेगी और तबीयत ऊपर से खुश रहेगी। दूसरे ने ठठा कर हँसते हुये कहा बीबी ढूँढने से सरल काम है साढ़े तीन आने की एक बोतल मिट्टी का तेल लेकर चूल्हा फूँक लो।

बात जम गई। खाना घर पर ही खाँएगे। आखिर मर्द के निश्चय में कुछ तो ज़ोर रहना चाहिए। क्या अगर दुनियाँ में बीबी न होती तो लोग भूखे मरते? क्या लोगों के घरों में चूल्हे ही न जलते? क्या लोगों का पेट भगवान ने जब्त कर लिया होता? कलाकार के मन में लाखों सवाल घूमने लगे। आखिर जब आदमी भी खाना पका सकता है तो वे क्यों नहीं पका सकते?

मिट्टी का तेल आया। चूल्हे में लकड़ी रक्खी गई। उस पर मिट्टी का तेल छिड़का गया। सब मामला कितना आसान था। दियासलाई की एक तीली से एक चिपटी सुलगा कर नीचे रक्खा और एक फूँक झुक कर मारी तो भक से चूल्हा जल गया। लपटें निकलीं और बटलोई से लिपट गई। लेकिन सहसा जो यह दुर्घटना घटी तो कलाकार का मन डूब गया। हुआ यह कि लकड़ी से एक लपट ऐसी निकली कि चूल्हा फूँकते वक्त उसने कलाकार की रेशमी दाढ़ी पर अपनी रक्ताभ आभा डाल दी। इत्र से मली हुई मुलायम दाढ़ी को सुलगाने के लिये किसी मिट्टी के तेल की आवश्यकता नहीं थी। जैसे धुनी हुई रुई के अंबार में एक चिनगी पड़ जाय उसी तरह

वह दाढ़ी जल उठी। कलाकार के मेकअप में दाढ़ी एक मुख्य वस्तु थी। लेकिन यह ऐसा मेकअप था जिसे काम करते वक्त उतार कर रक्खा नहीं जा सकता था। अव्यवस्थित ढंग से दाढ़ी के जल उठने पर कलाकार ने अपनी हवाई दाढ़ी को फ्रेंचकट का रूप दिया।

कलाकार महोदय मिट्टी के तेल की बोतल लेकर चूल्हे के पास पहुँचे। ज़रा भी चूल्हे में आँच कम हुई कि उन्होंने बोतल से तेल उँडेला। बटुली का चावल फुदकने लगा। खाली वक्त का इस्तेमाल करने के लिये आइडिया आया कि जैसे वह लेखक बने हैं उसी तरह वह आजकल कवि भी चटपट बन सकते हैं। अगर उन्होंने गद्य को गाकर पढ़ने का अभ्यास कर लिया या उसे लय में पढ़ने का तरीका सीख लिया तो पलक मारते वह लेखक से कवि में पलट जाँयगे। छंद की झंझट अब छूट ही चुकी है।

अब तक कवि बनने के लिये एक ही कमी उनमें थी वह यह कि उनके अन्दर कोई व्यथा नहीं थी। कहा जाता है कि बिना व्यथा के कवि नहीं बना जा सकता है। आज अपनी रेशमी दाढ़ी अपनी ही आँखों के सामने धू-धू करके जलती हुई देख कर उनमें जो व्यथा जागी उससे बढ़ कर जीवन में कभी कोई व्यथा न हुई जब उनकी महीनों की मेहनत से बढ़ाई हुई दाढ़ी एक क्षण में जल कर स्वाहा हो गई हो।

चावल फुदक रहा था उधर उन्होंने गद्यनुमा कविता लिखनी शुरू की......

ओ चूल्हे !
मेरी हेल्थ की बरात के दूल्हे !
ओ चूल्हे !
तुमने मेरा स्वाँग क्षण भर में स्वाहा किया
क्षणभंगुर इत्रिल दाढ़ी यह
कलाकार की...
फूँका तुम्हें झुक-झुक कर, दुखते हैं कूल्हे !
ओ चूल्हे !

मानव के पेट के प्रतीक !
चाहे हो इंडियन चाहे हो ग्रीक
सब हैं तुझ में ही भूले !
ओ चूल्हे !

कवि की कलम से यह लाइनें क्या निकली कि जैसे उसे दाढ़ी जलने का सारा दुख कुछ देर के लिये भूल गया ! मगर इसी बीच जब चावल भी जल कर बराबर हो गया तब कलाकार की सारी व्यथा दूनी हो गई। जीवन असार दिखाई पड़ने लगा और अपने ऊपर से जैसे सारी आस्था उठ गई। मानवता का भविष्य धुंधला दिखाई देने लगा ! जन जीवन में तंदुरुस्ती की उन्नति का मार्ग हर तरफ़ अवरुद्ध दिखाई पड़ने लगा। सहसा बड़ा विकट गतिरोध सामने आकर खड़ा हो गया।

कहते हैं कि आज के जीवन में आकाशवाणियों का कोई महत्व नहीं। लेकिन कलाकार जानता था कि जब जीवन में ऐसे असमंजस के क्षण आते हैं तो ये आकाशवाणियाँ ही हमारी सहायता करतीं हैं। और उसी क्षण उसके मन में जैसे अपने उस दोस्त की वाणी गूँजने लगी जिसने कहा था कि घर पर बैठकर खाना-खाना है तो शादी कर लो।

कलाकार के सम्मुख शादी करने का प्रश्न उठा। शादी करके ही जीवन सुखी रह सकता है क्योंकि दोनों वक्त चूल्हे पर पका भोजन तो मिल जायगा। उन्हें जीवन संगिनि की नहीं बल्कि मिसरानी की तलाश थी।

मित्र महोदय का यह निश्चय जानकर कई बापों ने कोशिश की कि वे कलाकार के जीवन के भार को हल्का करें लेकिन सबने ग़लत रास्ता पकड़ा···किसी ने अपनी लड़की के रूप का आकर्षण दिया, किसी ने मकान और दहेज का इशारा किया, किसी ने बड़ी-बड़ी रिश्तेदारियों में फंसाना चाहा लेकिन एक ने भी यह नहीं कहा कि उनकी बेटी दोनों वक्त चूल्हे पर का पका हुआ भोजन खिला सकने में समर्थ है।

और अब देखिये कि कलाकार के जीवन में चूल्हा किस तरह से

घुस कर बैठा है कि वह लाख चाहते हुये भी अपने लायक मिसरानी नहीं तलाश कर पाते क्योंकि सब उनके लिये जीवन-साथी ही खोज-खोज कर लाते हैं !

अगर आप को कला जैसी चीज़ में दिलचस्पी है और आप हमारे कलाकार को फलते-फूलते देखना चाहते हैं तो उन के लिये एक ऐसे जीवन साथी का ध्यान रखिये और हमें बताइएगा ताकि उसके आने से उनके घर का चूल्हा दोनों वक्त जल सके !

चिट्ठी-साहित्य

यह अच्छी तरह जानते हुए भी कि "पाती आधी मिलन है" और 'वियोगिन' के लिए 'पतियाँ' लिखना अत्यन्त आवश्यक है, एक अजीब उलझन इस ख्याल से ही पैदा हो जाती है कि 'उनको चिट्ठी लिखना है!' वैसे अपनी लियाक़त पैदा करने के सिलसिले में 'श्री लिखिए षट् गुरुन को......" के नियमावली दोहे से लेकर 'भाई डियर, टाटा' तक और 'ओइम्, राजी खुशी, परमात्मा से आपकी खैरियत नेक चाहता हूँ" से लेकर एक लाइन वाली "किताब भेज दो।" की स्टाइली चिट्ठियों से वाकिफ़ हो चुका हूँ—बल्कि ऐसा समझिए कि इसमें से बहुतों का निजी अनुभव भी है। मैं नहीं जानता कि पोस्टकार्ड या चिट्ठी के कोने पर तारीख़ और पता लिखने से चालू होकर 'प्रिय' वगैरह फाँदते हुए 'भवदीय' या 'आपका' लिखते-लिखते दाँतों पसीना क्यों छूटने लगता है? इसके विपरीत चिट्ठियाँ पढ़ने में मुझे बड़ा मज़ा आता है, (अपनी भी और-दूसरों की भी!)।

"ज़माना बुरा आ गया है। चिट्ठियों से 'काँटैक्ट' (संबंध) बनता है। वही सब 'लाइफ़' में काम आता है!" दोस्तों ने दोस्त होने के नाते सब कुछ समझाया। वैसे यह तो मैं भी जानता हूँ कि चिट्ठियाँ अगर 'फ़ायदेमंद नहीं होतीं तो नुकसानदेह तो नहीं ही होतीं। यह भी समझता हूँ कि बहुत

से लोगों ने रवीन्द्रनाथ ठाकुर से लेकर गाँधी जी तक को भरमार चिट्ठियाँ लिखीं थीं और अगर एक लाइन का भी जवाब उन्हें कभी मिल गया था तो उसे छपवाकर, मढ़वाकर, जड़वाकर उसी मोहर के बल पर वह कल्चरल अटैची से और मिनिस्ट्री तक की लाइन में कहीं न कहीं फ़िट हैं ! चिट्ठियों में न सिर्फ़ बड़ी ताक़त होती है, बल्कि बड़ी जान होती है—हाँ पकड़ी जाने वाली चिट्ठियों के बारे में ज़रा किरकिरी होने के लक्षण निहित रहते हैं ! इसलिए ऐसी चिट्ठियों के लेखक न सिर्फ़ सम्हल कर लिखते हैं बल्कि दोहरे तिहरे और चौहरे माने वाले शब्दों का प्रयोग करते हैं !

बात यह है कि अब तक लोगों को यह नहीं सूझा कि चिट्ठी लिख और लिखाकर पैसा और यश दोनों हाथों लूटा जा सकता है, नहीं तो अब तक डाक विभाग को साल में छः बार डाक के टिकटों का रंग और तस्वीरें बदल-बदल कर जनता का मन मोहने की ज़रूरत न पड़ती ! सो मैं ज़रूरी समझता हूँ कि जनता के हित के लिए इस रहस्य का उद्घाटन करूँ कि चिट्ठी लिखने से पैसे प्राप्त होने की काफ़ी गुंजाइश है, बशर्ते थोड़ी अक्ल भी इस्तेमाल की जाय !

मेरे एक मित्र 'साहित्यकार' थे । 'साहित्यकार' शब्द से उनको ख़ास मुहब्बत थी, इसीलिए मैं उनकी साहित्यकार-आत्मा की शाँति के लिए यही शब्द इस्तेमाल करना चाहता हूँ । 'थे' जब मैंने लिखा तो उसका यह मतलब क़तई नहीं निकलना चाहिए कि वह अब इस असार संसार में नहीं रहे बल्कि यह कि उन्हें अपनी ग़लतफ़हमी महसूस सी होने लगी है और शायद है कि आगे सुधर जायँ ! सो उन्होंने जो अपनी कलम पर महारानी सरस्वती का आसन लगा कर दौड़ाना शुरू किया तो क्या ब्रज-माधुरी सार क्या नये मेल की अज्ञेय मार्का कविता, क्या सम्पूर्ण तीन खंडों वाला टीकायुत नाट्य निर्माण क्या लेटेस्ट एकांकी नाटक, क्या प्रेमचंदी दो बहनें स्टाइल की, क्या बनफूली शार्ट कहानी, क्या महावीर प्रसाद द्विवेदी मार्का क्या लीकॉक डिज़ाइन के संक्षिप्त निबंध, क्या, 'आगे भूतनाथ ने कैसे रानी चन्दा को पकड़वा-तीसरे भाग में पढ़िए' के ढंग पर क्या 'संक्षिप्त

अपूर्ण' के नमूने पर 'पूर्ण लघु उपन्यास' सभी मैदान मँझाने से वह बाज़ न आए !! लेकिन उफ़ रे ज़माने की बेदर्दी, कि उसने इतने बण्डल एक साथ देखकर भी अपने मुँह से उफ़ न की !

सब्र की भी हद होती है। जब वह इसकी बाट जोहते-जोहते कि लोग उन्हें साहित्यकार मानें, थक गए और जब सबूत में कई बार अपनी कटिंग और—नम्बर लगा कर अपनी कृतियों की पूरी सूची भी सामने रक्खी और लोगों ने उस सूची की ओर—झाँकने से भी इन्कार कर दिया तो वह ज़रा परेशान से हुए ! मित्र में एक खूबी है कि वह लगन के आदमी हैं और कहा गया है कि लगन वाले के लिए कुछ भी मुश्किल नहीं है। 'गाँधी जी के पत्र' की मोटी-मोटी किताबें देखकर, नेहरू जी की 'पिता के पत्र पुत्री के नाम' पढ़कर, तथा कई और पत्रों की, पुस्तक पढ़ कर उन्हें सहसा यह भान हुआ कि बिना चिट्ठी साहित्य का सृजन किये हुए कोई आदमी उम्दा साहित्यकार या विचारक नहीं हो सकता ! कुछ वे खुद समझे, कुछ दोस्तों ने समझाया कि महान लेखकों तथा विद्वानों की चिट्ठियाँ ही उनके जीवन पर प्रकाश डालतीं है और इन्हीं चिट्ठियों के द्वारा ही उनके व्यक्तिगत जीवन का भी पता चलता है जिनमें उनकी महानता झलकती है।

कह ही चुका हूँ कि वे काफ़ी लगन के आदमी थे ! इन्होंने भी यह सोचा कि चिट्ठी साहित्य का ही निर्माण श्रेयस्कर है ! चिट्ठियाँ लिखने से पहिले ही प्रकाशक से तय कर लिया कि वह मित्र के पत्रों का संग्रह छापेगा—कह नहीं सकता, हो सकता है कुछ एडवाँस रुपिया भी मिला हो। अस्तु।

पत्र लेखन प्रारम्भ हुआ। एक चमड़े का बैग लिया गया जिसमें पड़ोस के डाकखाने से हर प्रकार के प्राप्य टिकटों, लिफ़ाफ़ों अंतर्देशीय पत्र हवाई खातों के लेबिल पोस्टकार्ड, जबाबी पोस्टकार्ड, और लोकल पोस्ट-कार्ड तक का एक संकलन जुटाया गया। कहा गया है कि लगन का आदमी एक क्षण भी बेकार नहीं जाने देता। सो मित्र महोदय ने भी रास्ता चलते, गाड़ी में सफ़र करते, रिक्शे पर घूमते, बस पकड़ने के लिए क्यू में खड़े रहते-रहते अपने वक्त का इस्तेमाल पत्र-लेखन में करना शुरू किया !

कहते हैं कि उन्होंने इन पत्रों में बहुत कुछ लिखा। बड़ी-बड़ी शैलियों डिज़ाइनों, नक्काशियों और कारीगरी के साथ लिखा। उनका कोई दोस्त ऐसा नहीं बचा जिसके पास उनकी चिट्ठी नहीं पहुँची। कुछ को थर्ड फोर्थ क्लास के ढंग पर अर्थात्

[मेरे भाई मोहन,

जो तुमने गाय के बारे में पूछा है सो मैं तुम्हें गाय के बारे में बताता हूँ।

......(इसके बाद गाय पर निबंध)]

इन्होंने पत्र लिखा। यानी प्रिय मोहन-सोहन या रोहन जो कुछ भी हो लिखकर तत्पश्चात् 'साहित्य और मानव मूल्य' पर एक निबंध लिख दिया। किसी ने जवाब दिया तो उस पर चार-पाँच और धाँग दिया, चलिए टापिक पूरा हो गया। इसी तरह किसी को 'नाटक क्या है' पर छः पेज का एक पत्र, तो दूसरे को 'नई कविता में छंद' पर शार्टनोट्स तीसरे को 'समकालीन साहित्य पर एक विहंगम दृष्टि' आदि-आदि ।

कइयों ने जिनको इस तरह ख़त लिखने का मर्ज था, उसी सिक्के में अदा करना चाहा। लेकिन एक के बाद दूसरा और दूसरे के बाद तीसरे के क्रम से वे घबरा कर भागे। पता नहीं आगे उनके साथ मित्र महोदय की कैसी बीती। सुनते हैं इनके कई जवाबी पोस्टकार्ड जब हज़म हो गए तब ये माने !

मुझे भी इन मित्र महाशय की अक्सर चिट्ठियाँ मिलती थीं। जब तक इन चिट्ठियों में बाल बच्चों की ख़ैरियत के बारे में, आने-जाने के प्रोग्रामों के बारे में शराफ़त के साथ वह लिखते और पूछते रहे, मैं भी अपनी तमाम काहिली के बावजूद, कूँथ-काँथ कर दो-चार लाइनें जवाब में भेज दिया करता था। एक दिन इनका पत्र पाकर मैं सन्न रह गया। अबकी ख़त 'प्रिय महोदय' से शुरू हुआ था। आगे उसी तरह कि आपने जो ज्याँ-पॉल सर्त्र के अस्तित्ववाद का हिन्दी साहित्य पर प्रभाव के बारे में पूछा था उसके बारे में मेरे विचार यों हैं....(और आगे मेरे बूते के बाहर

छः पेज !) । मैं घबराया कि कहीं दूसरे का ख़त तो मेरे नाम नहीं आ गया ! पलट कर देखा तो पता एकदम साफ़ था यानी मेरा ही था ! बड़ा ताव आया । एक चिट्ठी तत्काल लिखी जिसमें इस 'प्रिय महोदय' और आगे वाले सिरदर्द का जवाब तलब किया। नियत समय पर चिट्ठी का जवाब मिला—

"सब चिट्ठियों की प्रतिलिपि रखता जा रहा हूँ । छपवाना है । प्रकाशक को कुछ दिखाया था । नामों पर उसे आपत्ति थी इसलिए अब सबको प्रिय महोदय करके भेज रहा हूँ । अपने सभी मूड में पत्र लिख कर व्यक्तित्व को कृतित्व के द्वारा उभारने का प्रयास कर रहा हूँ । अगर कभी नाराज़ होकर भी लिखूँ तो 'सीरियसली' मत लेना ! और मित्रों ने पत्र का जवाब देना बन्द कर दिया है । तुम जवाब चाहे न देना लेकिन चिट्ठियाँ मिली हैं, इस तथ्य से इन्कार न कर बैठना । कई ने ऐसा भी किया है ।"

तब मेरी आँख खुली कि ओह यह बात थी ! तब से वे मुझे तो क्रम से बराबर हर हफ़्ते चिट्ठी भेजते जाते थे । मैं चुपचाप गर्दन झुकाए सह लेता था क्योंकि कभी मेरा मन उनको पढ़कर हँसखेल लेता था !

सुना उनकी किताब, यही चिट्ठियों वाली, पूरी नहीं हो पाई । मित्रों ने कुछ हंगामा मचाया । प्रकाशक ने एकतरफ़ा लिखी हुई चिट्ठियाँ छापने से इन्कार कर दिया क्योंकि उन्हें वह 'हवाई ख़त' मानता था ! उसने अपने पैसे वसूल करने के लिए नालिश तक करने की धमकी उन्हें दे दी थी मगर प्रभु की लीला, कि बीच में कुछ समझौता शायद हो गया !

महान् बनने के अरमान मुझमें भी हैं, ऐसा नहीं है कि न हों, लेकिन सिर्फ़ लेटे-लेटे ! यह झंझट मेरे बस की नहीं है ! मैं इस तकल्लुफ़ में पड़ा कि लोग मेरे पत्रों से मेरे व्यक्तित्व को जाने पहिचाने तो यह हविस न जाने कहाँ ले जा पटकेगी ! मेरे मित्र में तो यह गुण अब भी है और मैं डरता हूँ कि कहीं फिर न उनका पत्र मेरे लेटर बक्स में आ गिरे ! वैसे मैं

अपने मित्र के इस गुण की कद्र करता हूँ और लोगों को धीरे-धीरे समझाता भी हूँ कि इससे पैसा और यश दोनों ही मिल सकता है। 'धीरे-धीरे' इसलिए कि कहीं लोग 'पर उपदेश कुशल बहुतेरे' वाली चौपाई को बीस बार राम नाम लिखने के नमूने पर मेरे पास चिट्ठियों में लिख-लिख कर न भेजने लग जायँ !

किन्तु........

(एक इलेस्टिक उपन्यास)

तो उस दिन शाम, शाम क्यों रात कहिए (यूँ ग्रीक साहित्य में शाम और रात को लेकर बहुत विवाद है ।) बात यह है कि घड़ी के हिसाब से सात बज कर पच्चीस मिनट हुए थे और सूरज डूब गया था । क्योंकि उसके सातों घोड़े चलते-चलते अड़ियल हो गए थे और इसलिए यह कहा नहीं जा सकता कि यह शाम थी कि रात लेकिन यह तय है कि चाँद निकल आया था । अच्छा खासा भरापूरा चाँद !! और चाँदनी करीब-करीब फैल चुकी थी । चाँदनी भी कई तरह की होती है यानी घाघ की 'तितर-बदरिया चाँदनी' जिससे बारिश का अन्दाज लगता है, या 'उसने कहा था' कहानी की लड़ाई वाली मैदानी चाँदनी जो चाँद का 'क्षयी' नाम सार्थक करती हो, या लाइसेंस देने वाली धुँधली चाँदनी 'जिस चाँदनी में जो करो सब कुछ क्षमा है,' या जिस चाँदनी को देख कर 'चाह मन' में उठने लगती है, या वह ज्योत्सना वाली चाँदनी जिसकी रूपहली आभा चेतना सी भू की ओर उतरती चली आती है और हम आप मुँह बाए देखा करते हैं, या 'चित चैत की चाँदनी' हो सकती है जहाँ 'चर्चा चलिबे' की चलाना मना हो, या खूब गचगची चाँदनी जिसे चटक चाँदनी कहते हैं और शहराती भाषा में जिसे 'पिकनिकी चाँदनी' कहते हैं । तो इस वक्त यही चाँदनी थी जिसे हम आप पिकनिक वाली चाँदनी कह सकते हैं ।

यह एक बंगलानुमा मकान था। इसमें लड़ाई के पहिले कोई ईसाई साहब रहते थे लेकिन वह अपनी मुर्ग़ियाँ बटोर कर बाद में चले गए और इसमें कोई दूसरे किराएदार आकर रहने लगे। मशहूर तो यह था कि इसमें भूत लगते हैं लेकिन यह पता नहीं लग पाया कि इन नए किराए-दारों के आने के बाद यह खबर उड़ी कि पहिले ही से मौजूद थी। बहर-हाल उसी मकान के किनारे वाले कमरे में रहते थे सुरेश जी।

बंगले के दूसरे किराएदार इन दिनों छुट्टियाँ में कहीं चले गए थे। इसीलिए मैदान में चार मूर्तियाँ जमी हुई थीं सुनील, सुरेश, सुशीला और सुषमा।

बंगला पुराने ढंग का था। चारों तरफ 'लाइकोपर्सिकम एसकुलिटम हैलीकाका बम' के वृक्ष थे जिनसे जब-जब रुई उड़ती थी तो ऐसा लगता था कि जैसे बर्फ गिर रही हो। किनारे की तरफ 'प्वाँसियानारेज़िया' के दरख्त थे। पोर्टिको के ऊपर 'यू फ़ारबिया हिर्टा' लाल फूलों से सजी थी। सुरेश के पास भी एक 'फाइकस बेंगलेसिस' का पेड़ था। फाटक पर ही 'फाईकस रिलीजियोसा' के अनेक पेड़ दीख पड़ते जिससे साफ़ पता चल जाता था कि इस बंगले का मालिक कोई हिन्दू होगा। यहाँ तक कि उसने बीचोबीच लॉन में भी 'ओसिमम सेंकटम' के कई पेड़ लगा रक्खे थे।

अस्तु। यह चारों यहाँ बैठे थे। कैसे बैठे थे इसका भी एक राज़ है। सुरेश और सुषमा एक दूसरे के दोस्त थे और यह सुरेश का घर था इस-लिए अगर वे थे भी तो उनका क्या दोष? सुनील और सुशीला भी एक दूसरे के दोस्त थे दूसरी बात कि सुशीला को सुरेश की कविताएँ अच्छी लगती थीं और इसका कोई इलाज नहीं है। तीसरी बात कि सुरेश और सुनील की जान-पहिचान भी थी इसलिए अगर भाननती का पूरा कुनबा यहाँ जुड़ा हुआ था तो क्या ताज्जुब? अब आइए इन सब से आपका परिचय भी करा दूँ। ये हैं सुरेश इस वक्त मकान मालिक जो सारे बंगले को बिना किसी डर के उसी तरह इस्तेमाल कर सकते हैं जैसे खुद मकान मालिक करता। यहाँ के दैनिक अखबार में काम करते हैं। वैसे कहने के लिए अपने को

एडिटर या इसी के आस-पास का कुछ बताते हैं लेकिन अगर प्रेस जाने के बाद कुछ का कुछ निकले तो आपको ताज्जुब नहीं करना चाहिए। यह इनकी आदत है। वैसे पत्रकारिता के बारे में ज्ञान बहुत है। टाइम्स और बाम्बे गज़ट के मालिकों का नाम वह बताते थे कि ग्रेटन जियरी था। इसके अलावा "इंडियन स्पैक्टैटर, हिन्दू पैट्रियट, इण्डियन मिरर, बंगाली, हिन्दू इंग्लिस्तान स्टेट्समैन, मद्रास मेल, इंडियन डेली न्यूज, फारवर्ड, पायनियर, लीडर, नेशनल हेराल्ड, सर्चलाइट, अमृतबाजार पत्रिका, हिन्दूस्तान टाइम्स" और जितने भी अख़बार निकले थे या निकलने वाले हैं उन सब का नाम उनकी ज़बान पर रहता। अपनी बातचीत के दौरान में कामा, फ़ुलिस्टाप, और हैडिंग पर बहुत ज़ोर दिया करते थे। ज़रूरत से ज़्यादा बोलते नहीं थे। बहुत हुआ तो एक दो कालम बोल दिया नहीं तो चुप रहते थे। अभी-अभी कुछ ही दिन की तो बात है कि उस दिन वह भारत में समाचार पत्रों के विकास पर एक लेख पढ़ रहे थे।

उन दिनों बम्बई में एक भी………(पृष्ठ ८६ से)

………यही उनकी उपयोगिता का प्रधान सबूत है (पृष्ठ ९५ तक)

(परिषद् निबंधावाली)

(क्षमा कीजिएगा संपादक जी, मुझे पूरा उद्धरण देने नहीं देते इसलिए यह पाँच-छः पन्ने आप अलग से पढ़ लीजिएगा।)

पढ़ते-पढ़ते सुरेश को सचमुच जोश आ गया कि अब तक हिन्दुस्तान में एक भी अख़बार ऐसा नहीं है जो स्वतंत्र रूप से अपनी बात कहने में हिचके नहीं। उसे अपनी हालत पर, अपने मुल्क की हालत पर बड़ा क्रोध आता था (लेकिन खुदा गंजे को नाखून नहीं देता तदनुसार इन्हें भी एडिटोरियल पढ़ लेने की आज़ादी थी, लिखने की नहीं) इन्होंने अभी उस दिन के लीडर में सम्पादकीय पढ़ा था जिसकी कटिंग उनके जेब में अब भी रक्खी थी। डा० अम्बेडकर को ऐसा नहीं कहना चाहिए था। सुरेश का तो अब भी विश्वास है कि देश ऊपर उठेगा। रेस्त्राँ में चाय की प्याली पीते हुए उसने अपने साथ बैठे हुए दोस्त को उस

उस वक्त आकांक्षी नेता को चाहिये कि वह इतनी जोर से 'चोर-चोर' चिल्ला कर सड़क पर दौड़ने लग जाय कि भले-चंगे सोने वाले घबरा उठें और समझें कि उनका असली चौकीदार यही नेता है जो बात बेबात के भड़क उठता है और चिल्ला कर सड़क पर दौड़ने लगता है। जब सब तरफ लोग यह समझने-बूझने लग जायँ कि अब अख़बार पढ़ने में कोई मजा नहीं है, वह नीरस हो गया है तब योग्य नेता को एक ऐसा भयानक वक्तव्य देना चाहिये जिससे सहसा पता चले कि जनता के लाभ के लिये जो कुछ किया भी जा रहा है वह उसकी आँखों में धूल डाली जा रही है और दरअसल उससे सिवाय दो-चार आदमियों के और किसी का लाभ होने वाला नहीं है और जनता इसको पढ़ कर भड़क उठे। वह इस नेता का साथ दे। आंदोलन छिड़ जाय। हुड़दंग मच जाय। बीस पच्चीस लोग गिरफ्तार हो जायँ! 'व्यक्तिगत स्वतंत्रता', 'भाषण का अधिकार', 'अधिकारों का खंडन-मंडन' दस पाँच इने-गिने जुमले दोहराये जायँ और जनता मूर्ख बन कर उन्हें उन्हीं स्वरों में पुकारे जिस 'टोन' में नेता महाशय चाहते हों, तो बस समझ लीजिये नेता महोदय ने बड़े ही सफल ढंग से समस्या का उत्पादन कर लिया और उनका भविष्य उज्ज्वल है! उन्होंने समस्या खड़ी करके जनता के लिये मर जाने की कसमें खा-खा कर चाहे कुछ किया हो या न किया हो, लेकिन अपनी आकबत जरूर बना ली। समस्या पर चाहे किसी का ध्यान जाय या न जाय लेकिन उस नेता पर सब का ध्यान अवश्य पहुँचेगा।

इस तरह के समस्या उत्पादक नेताओं की कई किस्में हैं। कुछ तो ऐसे हैं जो बेचारे यही नहीं समझ पाते हैं कि समस्या अगर है भी तो वे क्या ग्रहण करें ताकि जनता उनको पूछने लगे। वास्तव में उनके अन्दर कुछ ईमानदारी बाकी रह जाती है। वे सोचने लगते हैं कि यदि वे फैसला देने वाले होते तो वे क्या करते। कुछ ऐसे होते हैं जो एक उठी-उठाई समस्या को लेकर नाचने लगते हैं। फ़र्ज कर लीजिये गन्ना-उत्पादकों की तरफ से किसी नेता ने एक समस्या का उत्पादन किया तो दूसरा आकांक्षी

नेता उस बात को लेकर या तो भूख हड़ताल कर देगा या विधान सभा में लेट जायगा। जनता का ध्यान वह भी अपनी तरफ खींचेगा।

लेकिन सब से बड़े समस्या उत्पादक नेता वे होते हैं जो कुछ नहीं होने पर भी समस्या खड़ी कर सकते हैं। बिना आँकड़े के हिसाब लगाने वाले इस तरह के अति प्रवीण नेता बहुत कम होते हैं। किसी भी बात पर जिसको लोग अपनी दिनचर्या का नियमित अंग समझने लग गये हों, उसमें से 'मैटर' निकाल कर चार पेज का एक वक्तव्य दे देना यह सबके बूते की बात नहीं होती। जैसे मान लीजिये किसी घर में अनाज पछोरने से उसमें काफी कंकड़ निकल आया। नेता को यह पता चल गया और वह उस वक्त किसी भी प्रकार की समस्या उत्पादन के लिये अत्यन्त परेशान है, तो वह चट से कंट्रोल की दूकान के आगे या यदि वह टूट चुकी हो तो उस जिले के पूर्ति विभाग के सामने भूख हड़ताल करने बैठ जायगा। राशनिंग की मोटर के सामने लेट जायगा और कंकड़ की शिकायत करते हुए वह सिर्फ़ वक्तव्य ही देकर चैन की साँस नहीं लेगा बल्कि वह पूर्ति मंत्री को तार देगा, एसेम्बली में इस पर प्रश्न करने या कराने की कोशिश करेगा। हो सका तो शहर में जब कभी भी कोई अधिकारी या मंत्री आया, उसे काले झंडे दिखलायेगा, शोर मचायेगा कि जनता के सूप में पछोरन क्यों निकलता है! नेता माँग करेगा कि इसका जवाब पूर्ति मंत्री, कृषि मंत्री, खाद्य मंत्री आदि सभी सम्मिलित रूप से दें और अगर इसमें से एक ने भी इस हुड़दंग का उत्तर विरोधी नेता को दे दिया और उनके शिष्टमंडल से भेंट कर ली तो बस सारे जवाब तो पीछे पड़ जायँगे और नेता महाशय का नगाड़ा सब से ऊँचा बजने लगेगा!

समस्या उत्पादन करने वाले नेता में सूझ की बड़ी जरूरत होती है। यदि मौके पर सूझ न आई तो फिर बाद में वह फिसड्डी नेता गिना जाता है। ऐसे ही एक नेता थे जो एक सभा समाप्त हो जाने के बाद सहसा यह समझ गये कि उन्हें इस सभा में अवश्य बोलना चाहिये था क्योंकि वहाँ जनता काफी दिखाई पड़ रही थी। संयोजक महोदय जब सभा के लगभग

समाप्त होते ही धन्यवाद देने को उठ खड़े हुए तो जनता उठने-सी लगी। एकाएक जिस नेता को यह होश आया था कि उन्हें भी बोलना चाहिये था, वे चिल्ला कर मंच पर पहुँच गये और चीखने लगे—

"धन्यवाद देने का काम मेरा था। आपसे किसने कहा था कि आप धन्यवाद दीजिये।"

सभा के संयोजक भी अड़ गये—

"वाह आप क्या धन्यवाद देंगे आप कहाँ से आ टपके ?"

नेता लेकिन डट गये थे—

"मैं कहता हूँ कि कार्यक्रम के अनुसार धन्यवाद देना मेरा काम था। मैं जानता हूँ कि बेचारी जनता कितना दुख उठा कर, इस ठंड में यहाँ बैठी रही है। मैं ही धन्यवाद दे सकता हूँ। आप क्या कहेंगे ?" उठती हुई जनता तमाशा देखने को ठहर सी गई।

"वाह जनता का असली दुख मैं पहचानता हूँ। मैं उसे धन्यवाद दूँगा। सभा मैंने बुलायी थी। मैं ही धन्यवाद दूँगा !"

"पार्टी क्या किसी के बाप की है ? मैं क्या नहीं बोल सकता कि आप धन्यवाद भी नही देने दे सकते मुझको ? यह भी नहीं देखा जाता।"

झगड़ा बढ़ता ही गया। अन्त में श्रोताओं में से ही एक आवाज उठी—'हम धन्यवाद नहीं चाहते ! हम घर जाना चाहते हैं।'

और जनता उठ कर बिना धन्यवाद लिये चली गई। धन्यवाद तो नहीं हुआ लेकिन समस्यावादी नेता जो कुछ चाहते थे वह हो गया। दूसरे दिन अखबार में धन्यवाद की यह मनोरंजक घटना 'बॉक्स' में छापी गई ! नेता की समस्या उग आई थी।

ऊँट की करवट

संसार का इतिहास पढ़ कर आप भले ही यह बात न जान पायें लेकिन इस देश का इतिहास पढ़ने से आपको यह ज़रूर पता चल जायगा कि अपने यहाँ नेता बनने के लिये या तो वकील होना या इंश्योरेंस एजेंट होना ज़रूरी है। इनमें से एक भी चीज जिसके पास हुई वह भविष्य की कल्पना करके बराबर उसी में झूलता-झूलता चल बसता है। सौभाग्य से, चूँकि अपने पंडित मंगल मूरत मारुति नंदन के पास इंश्योरेंस की एजन्टी थी इसलिये इन्होंने जैसे ही नेतागीरी का शौक़ फरमाया, वह लपकती-झपकती इनके गोद में आ बैठी। वह तमाम संघों के अध्यक्ष हो चुके थे और मानवता के मौलिक अधिकारों के लिये संघर्ष करने के लिये अब तत्पर थे।

नेता में एक चीज़ का होना बड़ा ज़रूरी है और वह मनोविज्ञान की जानकारी। किस वक्त, कैसे मौके पर किन आदमियों में, किन चीज़ों के कहने या करने पर क्या नतीजा होगा, इसकी पकड़ होना बड़ा ज़रूरी है। जिसे यह समझ में न आया कि अमुक आंदोलन छेड़ने से वह जनक्रांति आदि का तमाशा खड़ा करेगा या ठप्प होकर नेता के चमड़े के बैग में एक प्रस्ताव मात्र रह जायगा, वह कभी भी सफल नेता नहीं हो पाया। वैसे तो पं० मंगल मूरत मारुति नंदन मनोविज्ञान के नाम से भी शायद अपरिचित थे लेकिन इंश्योरेंस ऐजेंटी करते-करते यह कला उन्हें बड़े-बड़े मनोवैज्ञानिक

उपन्यासकारों से भी ज़्यादा अच्छे ढंग से आ गई थी। इश्योरेंस ऐजन्ट यह अच्छी तरह ताड़ लेता है कि कब उसका केस कम्पलीट होगा और कब उसका असामी भड़क सकता है या कब वह उसे टरका कर दूसरी कम्पनी की पालिसी ले सकता है। वह यह भी जानता है कि दूसरी कम्पनी में पालिसी लेने वाले असामी को किस तरह फोड़ कर अपनी कम्पनी में लाया जा सकता है। नेतागिरी के लिये भी यह सभी बातें उतनी ही ज़रूरी हैं जितनी बीमा एजेंटी के लिये!! इसीलिये मंगल मूरत मारुति नंदन अनुपम तेज़ी के साथ एक सफल नेता हो गये थे। उन्होंने जनता की नब्ज़ पहचान ली थी। जनता के सामने अनेक दलों ने रोटी-कपड़ा मकान, दूकान और सामान सबकी समस्या रक्खी थी किन्तु नामों के कारण मानव के व्यक्तित्व का विकास ही किस प्रकार कुंठित हुआ था और किस तरह पुरानी पीढ़ी ने आने वाली संतानों के नामों को विकृत करके उनकी प्रगति में या तो विराम चिह्न लगा दिया था या उनकी लाइन ही बदल दी थी, इस समस्या पर मंगल मूरत मारुति नंदन को छोड़कर आज तक किसी नेता ने नहीं सोचा था। व्यक्तिवादी अहंवाद के इस युग में बहुत से राम अंजोर, गुरप्रसाद, अजोध्यालाल, गुरदत्तदयाल, नारायणसिंह, इकबाल बख़्शसिंह और कमला देवी, सीता देबी सुर्जपुत्री बिमलाकुमारी जी—शचीन, अक्षय, अरुण, तरुण, वरुण और शेफालिका, नीहारिका, नीना, मीना होना चाहते थे किन्तु जो अपने माँ-बाप की इस गल्ती के कारण न हो सके थे, वे सब के सब अपना उचित नेता पा जाने के कारण नंदन जी के साथ हो गये थे। नाम बदलने का अधिकार वे मानवता का मौलिक अधिकार मानते थे और मौलिक अधिकारों की रक्षा होनी ही चाहिये थी। न सिर्फ़ पढ़े-लिखे अधकच्चरे लोग ही नंदन जी के साथ थे बल्कि स्थानीय रजक संघ और अन्य ऐसे कई संघ समाज उनके साथ थे जिनका अस्तित्व एक साइन बोर्ड मात्र था और किन्हीं-किन्हीं का एक छपा हुआ लेटरपैड भी मंगल मूरत मारुति नंदन जी के पास सुरक्षित रहता था जिस पर वे उस संघ की ओर से प्रेस के लिये वक्तव्य आदि भेजा करते थे।

मारुति नंदन जी की बढ़ती हुई नेतागिरी से दूसरी कम्पनी के मनसुख तिवारी को बड़ी तकलीफ़ हुई। उन्होंने एक ऐसा हथकंडा लगाया कि नंदन जी के पीछे एक बच्चेदार औरत छोड़ दी जो यह कहती फिरी कि बच्चा नंदन जी की कृपा है !!

मंगल मूरत मारुति नंदन इस वक्त मनसुख तिवारी के छोड़े हुए पुछल्ले से बहुत परेशान थे। यूँ नेता के बीवी और बच्चा होना जुर्म नहीं है लेकिन जब वह औरत बच्चा उन पर मुफ़्त में लादे जा रहे थे, तब वे क्या करते ! मगर किस्मत की बात क्या कहिये। बहुत-सी चीज़ें जो गुत्थी बनकर आ खड़ी होती हैं, उन्हें परमात्मा अपने आप सुलझा देता है। तभी लोग एका-एक पलट कर आस्तिक हो जाते हैं !! हुआ ऐसा कि उसी शहर में एक पुलिस कप्तान तबादले पर आये जिनका नाम गणपति विघ्न विनाशन राव था। थे तो बेचारे पुलिस कप्तान मगर नाम के मारे बहुत परेशान थे और हमेशा अपने आप को जी० राव कहा करते थे। यहाँ आये तो जवान आदमी देख मंगल मूरत मारुति नंदन के मुँह में पानी आ गया और चटपट बीमे का हिसाब-किताब बैठाने के सिलसिले में पुलिस कप्तान के बंगले पर जा पहुँचे।

बीमा तो नहीं पटा लेकिन नंदन जी के आंदोलन से पुलिस कप्तान बहुत प्रभावित हुए। गणपति विघ्नविनाशन राव कहते रहे—"नंदन जी अपने यहाँ तो नाम बदलने की परम्परा बहुत पुरानी है। जह्नु ऋषि के कारण गंगा का नाम जाह्नवी हो गया। मुर राक्षस को मारते ही भगावन कृष्ण, मुरारी हो गये। त्रिपुर का नाश करते ही महादेव त्रिपुरारी हो गये। पर हमने अब वह परम्परा छोड़ दी है। मैंने स्वयं जब्बर डाकू को गोली से मार डाला लेकिन कोई मुझे जब्बारि नहीं कहता। नाम बदलने की परम्परा तो हमें फिर से उठानी ही चाहिये।" नंदन जी हूँ-हूँ करते रहे और मौका देख कर मनसुख तिवारी के छोड़े हुये पुछल्ले का उन्होंने ज़िक्र किया। उन्होंने नंदन जी की परेशानी देख मनसुख तिवारी की हरकत को ठंडा करने का आश्वासन दिया। नंदन जी मनमारे चले आए।

उन्हें सहसा बातूनी कप्तान की बात पर यक़ीन न हुआ।

इसी बीच बिल्ली के भाग से छींका टूटा। एक स्थानीय एम०एल०ए० का जीप एक्सीडेंट हो गया और वे बेचारे चल बसे। नतीजा यह हुआ कि बाई इलेक्शन के लिये एक सीट खाली घोषित कर दी गई। सीट के खाली घोषित होते ही मंगल मूरत मारुति नंदन के साथी-संगियों ने नंदन जी से कहा कि अब वक्त आ गया है जब उन्हें मानवता के मौलिक अधिकारों के लिये चुनाव लड़ना ही चाहिये और किसी-न-किसी तरह से एसेम्बली में जाकर उन्हें इन बेचारों को इसका अधिकार दिलाना चाहिये कि वे अपना नाम बदल सकें। इम्तहान की तैयारी बहुत दिनों से करते रहने पर भी जब इम्तहान की तारीख नज़दीक आती है तो जिस तरह परीक्षार्थी को रात दिन सपने आने लगते हैं और बार-बार उसका मन भाग जाने के लिये या ड्राप कर जाने के लिये बहकाता हो उसी तरह नंदन जी को भी चुनाव सामने देख कर दाँतों पसीना आ गया। पहिले बहुत हिचके, झिझके, लोगों को समझाया लेकिन लोगों को चुनाव से अच्छा बेटिकट दूसरा तमाशा देखने को नहीं मिलता सो वह काहे को मानते। वे जिन सेठ के यहाँ एक बार मुडंन पर कविता ले गये थे वे इस अनोखी सूझ वाले नेता मंगल मूरत मारुति नंदन के इलेक्शन का सारा खर्च बर्दाशत करने को तैयार हो गये। मरता क्या न करता! नंदन जी उछलते दिल को दबाते हुए किसी तरह से इलेक्शन लड़ने को तैयार हो गये।

प्रभात फेरी और जलूस निकालने के लिये नंदन जी को नारों और कोरस गानों की ज़रूरत पड़ी। बिना इसके जनता किसी भी तरह से प्रभावित नहीं होती। मंगल मूरत जी अपने एक कविराज मित्र की सेवा में इस बार हीं-हीं करते हुए पहुँचे और अपनी विपत्ति सुनाई और सहायता की याचना की। वे कवि महोदय बड़े ही व्यापारी प्राणी थे! बालू से तेल निकाल लेते थे। कवि सम्मेलन वाले उनका नाम सुनकर थर्राते थे और प्रकाशकों की घिग्घी बँध जाती थी! पाई-पाई वसूल करने की कला उन्होंने

वसीयत में पाई थी ! पर कहते हैं कि कोई लाख व्यापारी कवि हो लेकिन कहीं-न-कहीं द्रवणशील होता ही है ! मंगल मूरत जी जब लौटे तो उनके हाथ में कई नारे थे···पहिला था···

(एक लीडर) कंठ-कंठ की यही पुकार
(इस पर जनता कहेगी) वापस दो मौलिक अधिकार !
(एक लीडर) माँग रहे हम क्या अधिकार ?
(इस पर जनता कहेगी) नाम बदलने दे सरकार !!
बीच-बीच में "इंकलाब जिन्दाबाद !"
(इसके बाद '···हमारा नारा' ···(लीडर पुकारता है।)
माँ-बाप नाम न रक्खें !! (जनता कहेगी)
इसके बाद····हमारी माँगें···(उच्च स्वर से एक लीडर)
नाम बदलने का अधिकार वापस हो !!
अन्त में फिर····माँग रहे हम क्या अधिकार ?
नाम बदलने दे सरकार !!
इसके बाद जनता गाना गाती चलेगी···
हम बदल नाम तुमको दिखा जायँगे
नाम रखना तुम्हें हम सिखा जायँगे।
य न पूछो कि रख कर कहाँ जायंगे
हम तो अपनी वसीयत लिखा जायँगे !!

नारे और गाने हाथ में लेते ही नंदन जी का जैसे खोया हुआ विश्वास वापस आ गया। उनको लगा कि आधी से ज्यादा सफलता उनकी अचकन की जेब में आ गई है। प्रभात फेरियाँ निकलने लगीं। जलूस चालू हो गये। चुनाव लड़ने वाली और जितनी भी पार्टियाँ थीं उन सब से भव्य जलूस रोज़ शाम को शहर में मारुति नंदन का दिखाई पड़ता था। जलूस में रोज़ बरोज़ तरह-तरह की चौकियाँ भी रहतीं जिनमें यह दिखाया जाता था कि ग़लत नाम रख देने से आदमी की उन्नति किस तरह नहीं हो पाती। जैसे एक चौकी में यह दिखाया गया था कि एक

आदमी जब पुराने नाम से नौकरी पाने जाता है तब वह नहीं लिया जाता लेकिन जब वह सिर्फ़ नाम बदल कर ही जाता है तब वह ऊँची नौकरी पर रख लिया जाता है। इस जलूस को देखने के लिये लोग हर शाम को उसी तरह इकट्ठा हो जाते जैसे रामदल देखने के लिये !

अब अपनी उम्मीदवारी का पर्चा दाखिल करने की बात आई। मंगल मूरत मारुति नंदन जब पर्चा भरने चले तो फिर वही सवाल आया ! अब क्या किया जाय ? यदि वे अपना कोई और दूसरा नाम लिखते हैं तो चुनाव अफ़सर काहे को मानेगा ? और यदि वे अपना यही नाम लिखे देते हैं तो वे जिस बात को उठा कर चल रहे हैं, वह मूल ही समाप्त हो जायगा। नंदन जी अपने में ईमानदार थे क्योंकि व्यक्तिवादी हमेशा अपने प्रति ईमानदारी में सजग रहता है चाहे दूसरों के प्रति न रहे। अब तो 'भई गति साँप छछून्दर की' ! तभी उनके संगियों ने फिर उनकी रक्षा की। उन्होंने नंदन जी को अपना यही ही नाम लिखने को कहा और तर्क यह दिया कि राजनीति की देवी ऐसी ही होती है जहाँ अक्सर सबसे पहिले वेदी पर उसी सिद्धान्त की बलि चढ़ानी पड़ती है जिसके लिये आप राजनीति में घुसना चाहते हैं। मगर असली राजनीतिज्ञ वही होता है जो अपने दाँव पेंच से अपने बलि किये हुए सिद्धान्तों को समय पाकर फिर जिला ले और जनता को चकाचौंध कर दे। वे समझ गये।

नंदन जी ने चुनाव लड़ने के लिये जो चिह्न स्वयं चुना वह ऊँट का था। ऊँट के चिह्न से सब बड़े प्रसन्न हुए। ऊँट तो प्रगति का चिह्न है। प्रगति भी ऐसी कि जिस रेगिस्तान में कोई न जा पाता हो वहाँ ऊँट जा सकता है। अर्थात् जहाँ किसी की भी गति न होगी वहाँ ऊँट की गति होगी। मंगल मूरत मारुति नंदन ने अपना नाम प्रचारित करना उचित नहीं समझा। जिस नाम को वे सदा के लिये मिटा देना चाहते थे यदि वही प्रचारित हो गया तो फिर उनका सारा आन्दोलन ही विफल हो जायगा। और यदि सफल भी हुआ तो उनका तो कोई लाभ होने से रहा। नेता नंदन जी इसके लिये क़तई तैयार नहीं थे। इसीलिये

उन्होंने जनता से यही अपील की कि वे ऊँट छाप को वोट दें। सब प्रचारकों और एजेन्टों ने यही कहना शुरू कर दिया कि ऊँट छाप को वोट दो। ऊँट छाप ही तुम्हारा नाम बदलेगा। ऊँट छाप ही हमारा तुम्हारा भविष्य बनायेगा !!

चुनाव के दिन करीब आते जा रहे थे। मारुति नंदन बीमे का बैग अपने घर पर ही छोड़कर अब सबके यहाँ हाथ जोड़ कर जाते थे और मानवता का "मौलिक अधिकार उर्फ़ नामों में सुधार" नामक अपना छपा हुआ मैनीफ़ेस्टो देते थे। प्रभात फेरियों और संध्याजलूसों का कार्यक्रम पूर्ववत चलता रहा। और चाहे कुछ रहा हो या न रहा हो जनता को यह "आइडिया" बहुत पसन्द आया और कइयों ने लगभग यह तै कर लिया कि वे ऊँट छाप को ही वोट देंगे। शाम को जलूस में एक गाना और चालू हो गया जिसके मुखड़े के बोल थे···

ऊँट हमारा प्यारा प्यारा
सबसे अच्छा सबसे न्यारा। ऊँट० ॥

सब कुछ हो गया था और अब चुनाव होने में कुछ हफ़्ते बाकी रह गये थे कि सहसा एकदम अनभ्र वज्रपात हुआ। जाने किस कारण से उनका अपना चुनाव चिह्न ऊँट रद्द कर दिया गया और उसकी जगह पर उन्हें चिह्न दिया गया बरगद का पेड़। पता न चल पाया कि इसके पीछे क्या कारण था। कुछ लोग कहते रहे कि मनसुख तिवारी की करतूत है तो कुछ कहते थे कि इसमें दूसरी पार्टियों का हाथ है। बहरहाल चाहे किसी का हाथ रहा हो नंदन जी के तो हाथ-पाँव फूल गए। उनके पाँव के नीचे से धरती खिसिक गई और आँखों के सामने अँधेरा छा गया। हाथ के आये तोते फुर्र से उड़ गये ! सदमा गहरा हुआ। समझ में न आया कि क्या करें। अपील भी करने का सवाल न था। ऊँट इस करवट बैठेगा, किसी को इसका अँदेशा भी न था।. जो कुछ बन पड़ा हला-भला किया गया। दौड़ दौड़ कर ऊँट समझने वाली जनता कोब रगद का पेड़ समझाया गया।

परन्तु···! परन्तु चुनाव का दिन आया। जनता काफ़ी उमड़ी और बहुतों ने ऊँट छाप के लिये वोट भी देना चाहा। मगर ऊँट छाप तो पहिले ही हट चुका था। नंदन जी का दम टूट चुका था और हिम्मत जवाब दे चुकी थी। नतीजा वही हुआ जो होना चाहिये था। चुनाव में हार हो गई। वोट की जब गिनाई शुरू हुई उसी वक्त नंदन जी घर की तरफ़ चल दिये। फिर भी उनके लेफ्टिनेंट लोग समझाते रहे यह पहला मौका है। यही क्या कम है कि जनता ने आपका साथ दिया। और जिस का साथ जनता दे, वही असली नेता है।" घर पहुँचते-पहुँचते ही एक पुलिस के सिपाही से भेंट हुई। नंदन जी उसे देख कर एक दम घबड़ा उठे। तब तक उसने इनके हाथ में एक लिफ़ाफा दिया जिसमें एक कागज़ था। कागज़ पर लिखा था—

"मैंने मनसुख तिवारी की भेजी हुई औरत से यह लिखवा लिया है कि उससे आपसे कोई मतलब नहीं है और बच्चे से भी आपका कोई वास्ता नहीं है। फ़िक्र न कीजिये कागज़ आकर ले जाइए।"

नीचे दस्तख़त थे पुलिस कप्तान गणपति विघ्नविनाशन राव के।

मंगल मूरत मारुति नंदन के मुरझाए चेहरे पर मुस्कान आ गई। हार के आँसू जैसे पुँछ गये। इसके बाद वे अगले दिन शाम को रजक-संघ की बैठक में रक्खे जाने वाले प्रस्तावों को देखने लगे। सुनते हैं इस घटना के बाद नंदन जी आस्तिक हो गये। और भजन कीर्तन में जी लगाने लगे। उनका कहना था कि संसार की सभी समस्याओं का समाधान उसी आनन्दकन्द घट-घट वासी अविनाशी परमसच्चिदानन्द के हाथों में है। आस्तिक होने के पीछे एक यह भी राज़ था कि उन्हें ऐसे भगवान के भक्त होने में बड़ा सुख मिला था जिनके एक नहीं सहस्र नाम थे और जिनके नाम समय-समय पर भक्तों द्वारा बदले गये थे।

दुभाषिये की करामात

जमाने के ऊँट ने जब से इण्टरनेशनल करवट बदली कि बस दुभाषियों की तो एकाएक धूम मच गई। पहले वक्तों में दिया लेकर ढूँढ़ने पर भी मुश्किल से कोई दुभाषिया मिलता था। लेकिन अब तो उनकी वह बरसाती पैदावार शुरू हुई है कि जिस भले मानुस को देखिये, वह दुभाषिया ही बनने को तैयार है! पलक मारते सारा संसार दुभाषिये की हरकतों से संत्रस्त हो उठा! दुभाषिये अब न हों तो यह समझना मुश्किल पड़ जाय कि भला दुनिया का काम कैसे चलेगा? यह जो आये दिन बात बे बात के झगड़े उठते रहते हैं, यह जो बड़े बड़े अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन और कान्फ्रेंसों में हवाई अड्डों पर धूम मचती है, यक़ीन कीजिए कि यह सब कुछ न होता अगर दुभाषियों का सोलह कलाओं से युक्त—पूर्ण अवतार इस पृथ्वी पर न हुआ होता। इन दुभाषियों के ही कारण आज जबान का क्षेत्र बढ़ गया है और हथियारों का दायरा घट गया है जो मसला पंद्रह साल पहले सिर्फ हथि-यारों की ही मदद माँगता था, आज उसे यह दुभाषिये अपने महत्वपूर्ण अस्तित्व से अपनी करामात से, सिर्फ लच्छेदार बातों में महीनों और कभी-कभी सालों तक ऐसा उलझाये पड़े रहते हैं कि न सिर्फ लोगों की गरमी ख़त्म हो जाती है बल्कि वे यह भूलने भी लग जाते हैं कि झगड़ा किस बात को लेकर था।

शायद आपको भी यह पता नहीं होगा कि दुभाषियों ने दुनिया के नक्शे को अपनी मर्जी के मुताबिक बनाने में परोक्ष से रूप कितनी सहायता की है। न सिर्फ उन्होंने बना बनाया नक्शा अक्षुण्ण रखने में ही अपूर्व शौर्य दिखाया बल्कि वे जैसा चाहते रहे दुनिया को वैसा ही समझाते बुझाते रहे। ब्रह्मा ने पाँच इन्द्रियाँ बनाईं तो आदमी को लगा कि अभी कमी है। इसलिए उसने यह दुभाषिया नामक छठीं इन्द्रिय को अपने लिए स्वयं बना लिया जो आदमी को पाँचों से इन्द्रियातीत ज्ञान देती है। हमारे लिये दुभाषिया मात्र एक जीव नहीं है। वह हमारा ज्ञान है, हमारी जानकारी है, हमारी छठवीं इन्द्रिय है। इसीलिए आपको दुभाषिये को ईश्वर का वह अंश समझना चाहिए कि वह जो कुछ कहे या बताये उसे मानने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं रह जाता।

आपके यहाँ कहा गया है कि जनता किसी परम तत्व को सीधी तरह से कभी ग्रहण नहीं करती। उसे वही सब सच्चितानन्द आनन्द कन्द की लीला समझाने के लिये—तरह-तरह की कथाएँ गढ़नी पड़ीं।! कृष्ण और अर्जुन की कथा साथ में न लगी रहती तो भला गीता या महाभारत कौन आसानी से सुनने बैठता। रामायण ही कौन सुनता यदि उसमें किस्सा भी साथ न मिलता? इसीलिये दुभाषिये की परम लीला—वर्णन करने के लिये एक गाथा सुनाऊँगा। ताकि आपके पास यदि विश्वास नाम की चीज़ अब भी हो तो मैं उसे जमा डालूँ!

एक बार की बात है कि एक देश से दूसरे देश जाने के लिये दो सांस्कृतिक मण्डलों का निर्माण किया गया। इनमें से एक शिष्ट-मण्डल डाक्टरों का था, जो उस देश में आकर स्वास्थ्य सम्बन्धी देश का ज्ञान प्राप्त करता और दूसरा दल बना कलाकारों का जो वहाँ की सांस्कृतिक गतिविधि का अंदाज लगाने के लिए छोड़ा जा रहा था। मगर होनी को क्या कहिए? एक मामूली क्लर्क की गलती से सारा नक्शा कुछ ऐसा पलटा कि जब यह दोनों दल उस देश के हवाई अड्डे पर जाकर उतरे तो स्वास्थ-शिष्ट-मण्डल को तो उस देश के तमाम नृत्य केन्द्रों, रंगमञ्चों, सांस्कृतिक

पीठों, चित्र प्रदर्शिनियों में जाना पड़ा और साहित्यकारों और कलाकारों से भेंट करना पड़ा और उधर कलाकारों के शिष्ट-मण्डल को उस देश के नर्सिङ्ग होम, क्लीनिक कुष्ठरोग निवारण केन्द्र, तपेदिक सेनीटोरियम, मेडिकल कालेज आदि में जबर्दस्ती घूमना पड़ा।

दूसरे देशों में, चूँकि आये दिन शिष्ट-मण्डल आते-जाते हैं और उनके सब सवाल-जवाब नपे-तुले रहते हैं, इसलिए जब डाक्टरों के सम्मान में वहाँ के कलाकारों ने एक प्रीतिभोज दिया तो डाक्टरों ने इनकी विकसित कला के लिये बधाइयाँ दीं। सम्मान प्रकट किया। डाक्टरों को कलाकारों से मिलने जाते देख साथी सांस्कृतिक-मण्डल ने अपने सभी सवाल डाक्टरों को ही रटा दिये थे। डाक्टरों ने बड़ी आसानी से उन सवालों को दुहराया। मगर इस सब के लिए उन्हें दुभाषियों की जरूरत पड़ी। उस देश की सरकार दुभाषियों का महत्व भली भाँति समझती है। उनको खास तरह की ट्रेनिंग देती है। इसीलिये सभी दुभाषिये वहाँ सरकारी कर्मचारी हैं। बातचीत के दौरान में उन दुभाषियों के अतिरिक्त दूसरे दुभाषियों की वहाँ पैठ नहीं। बाहर से आया हुआ कोई भी सांस्कृतिक या शिष्ट-मण्डल बिना इन दुभाषियों के गूँगा और बहरा ही रहता।

डाक्टरों ने कलाकारों से हँस-हँस कर पूछना शुरू किया—

'आप के यहाँ कलाकारों, साहित्यकारों को क्या अपने मन माफ़िक, आज़ादी से काम करने की छूट रहती है? आपके देश की सरकार उसमें कोई बाधा तो नहीं डालती?'

दुभाषिये ने एक क्षण में सवाल समझ लिया। ऐसे सवाल न जाने कितनी बार वह बाहर से आये हुए लोगों से सुन चुका था। इसी दिन के लिये वह दुभाषिया सरकारी नौकर होकर जीता था। राजनीति का सारा सूत्र उसके हाथ में था और उसकी गर्दन सरकार के हाथ में थी। वह जो चाहता वही करता। और सरकार उसकी गर्दन के साथ जो कुछ चाहती वही करती। उसने तत्काल फर्ज समझ कर अपने देश के कलाकारों साहित्यकारों से कहा—

'पूछ रहे हैं कि आपको आपकी सरकार कुछ सरकारी खर्च देती है ? वज़ीफ़ा मिलता है ? और पूछ रहे हैं कि आप लोग अपने नेताओं के बारे में कुछ लिखते-पढ़ते हैं या नहीं ?'

वहाँ के कलाकारों ने कहा—'सरकार हमें इतना वज़ीफ़ा देती है और हम उसकी प्रशस्ति में अमुक चीज़ें लिखते या करते हैं।

दुभाषिये ने उत्तर देते हुए कहा—

'कहते हैं कि हमें हर तरह की छूट है। हम जो चाहें लिखें, जो चाहें पढ़ें। बाहर वाले यह वृथा शोर मचाते हैं कि हमें लिखने पढ़ने या अपनी बात कहने की पूरी छूट नहीं है। सरकार तो कभी भी बाधा नहीं देती। यह बात ही आपको नहीं सोचनी चाहिए।'

डाक्टरों को सिर्फ़ इतना दिखाई पड़ा कि वहाँ के कलाकार उत्तर देने के बाद प्रसन्न थे और उनके मुख पर सन्तोष की छाया थी। डाक्टरों ने दुभाषिये द्वारा प्राप्त उत्तर और उनके मुख का भाव नोट कर लिया।

डाक्टरों ने फिर पूछा—

'आपके यहाँ स्वतन्त्र कलाकारों को पेट भर खाने को मिल जाता है ?'

दुभाषिये ने समझाया—

'पूछ रहे हैं आपको अपनी सरकार में विश्वास है न ? आप देश के प्रति वफ़ादार हैं कि नहीं ?'

कलाकारों ने सर हिलाते हुए कहा—

'हाँ-हाँ क्यों नहीं !'

डाक्टर ने सब का एक साथ 'हाँ-हाँ' की ध्वनि से सिर हिलाना नोट कर लिया। तब तक दुभाषिये ने भी समझा दिया—

'कह रहे हैं कि हाँ-हाँ क्यों नहीं ?'

डाक्टरों का दल इसी तरह के प्रश्न पूछता गया। दुभाषिया उनको अपने ढंग से समझाता गया। वे उत्तर देते रहे और दुभाषिया दोहराता रहा।

उधर सांस्कृतिक शिष्ट-मण्डल अस्पतालों, मेडिकल कॉलेजों और

नर्सिंग होम के चक्कर काट रहा था। रोगियों को देख-देख कलाकारों के कोमल-कोमल मन कातर हुए जा रहे थे। मगर कोई चारा न था। देखना तो उन्हें था ही। डाक्टरों ने कलाकार-मण्डल को भी कई सवाल सिखा दिए थे ताकि वे देश का नाम न डुबोयें।

एक रोगी से सवाल पूछे गये—

"इस अस्पताल में कितने रोगी रह सकते हैं ?"

दुभाषिये ने रोगी को बताया—

"ये जानना चाहते हैं कि तुम्हारा किस चीज़ का आपरेशन हुआ है ?"

रोगी ने कहा—

"हाथ के फोड़े का।"

दुभाषिये ने जवाब दोहराया—

"दो सौ तीस।"

सवाल पूछा गया—

"यहाँ तुम्हें खाने को क्या मिलता है ?"

दुभाषिये ने पूछा—

"कितने दिन से छुट्टी पर हो ? कहाँ काम करते हो ?"

रोगी ने दुभाषिये से कहा—

"चालीस दिन से छुट्टी पर हूँ। काम सार्वजनिक निर्माण विभाग में कर रहा हूँ।"

दुभाषिये ने शिष्ट-मण्डल से अर्ज़ किया—

"कहता है कि अंगूर, फल, अण्डे, दूध, पनीर, डबलरोटी और—सभी दवाइयाँ मुफ्त मिलती हैं। कोई मर कर अस्पताल से आज तक नहीं गया।"

दुभाषिया जवाब बताता गया। शिष्ट-मण्डल ने अपने-अपने सवालों के जवाब तैयार कर लिये।

जब दोनों शिष्ट-मण्डल अपने देश वापस लौटे तो सांस्कृतिक दल के सदस्यों ने अख़बारों में बड़े-बड़े लेख लिखे जिसमें उन्होंने बताया कि

अस्तु ! किसी तरह राही जी को भी तैयार किया गया और वे तीनों सड़क पर आ गये। राह में यदुवंश जी मिल गए। उन्होंने पूरी कथा सुनी और राही जी उनसे पानी पिलाने का अनुरोध किया तो वे गंभीर होकर कहने लगे—

'आप लोग एकदम बेकार आदमी हैं। कभी सीरियस ढंग से न तो चीजों को समझते हैं और न करते हैं ! ही-ही ठी-ठी में सारा दिन सारी रात निकाल देते हैं तब फिर क्या काम हो ? इसलिए हम सब लोग बदनाम होते हैं !······मुझे तो अभी जरा कोष के काम से बाहर जाना है······आप लोग जाइए अभी पानी पिला कर आइये······' इतना कह वे अपने एक मित्र के यहाँ चले गए।

यदुवंश जी की रास्ता रोक कर भाषण देने की पुरानी बान थी, इसे सब जानते थे ! किसी तरह इन तीनों ने यह निश्चित किया कि वे निडर प्रेस में घटक जी के पास जाएँ और उनसे इस विषय में सलाह करके तब कुछ करें। उधर नारद जी भी निडर प्रेस की ओर चले। राह में उनकी भेंट श्री ग्रीष्म जी से हो गई। ग्रीष्म जी अपने नाम के प्रभाव से जले-भुने रहते थे। साफ कभी कहते नहीं थे मगर गोल-मोल शब्दों में जो कुछ उन्होंने नारद जी से कहा उसका सारांश यह था—

'देखो भाई ! यह तो कायस्थों की संस्था है। वही इसे पीछे से चलाते हैं, वही अब भी चलाएँ। पड़ी है तो वही भोगें। और भइया, डालर भी उन्हें ही मिलता है चाहें तो दस बार किसी को पानी पिलाते रहें। मुझसे अगर आप पानी पिलाने को कहते हैं तो आप कोई नयी संस्था बनाइए— यहाँ 'पानी पाँड़े क्लब' या 'पानी-समाज' जैसी कोई संस्था है नहीं ! संस्था आप बनाइए, संगठन मैं कर दूँगा। उसके मंत्री या सभापति के नाते जहाँ कहिए तहाँ पानी पिलाने चलने के लिए मैं तैयार हूँ !! और देखिए पानी समाज की ओर से आपको कुछ प्रकाशन करना होगा और मेरी एकाध अनुवाद की किताबें भी छापनी पड़ेंगी ! समझे !'

नारद जी के होश हवा हो गये। प्रकाशक और संस्थापक बनने की

ताब उनमें अब नहीं रह गई थी। खिसक दिए। पूँछते-जाँचते वे डाक्टर शिव देव भीतरी के यहाँ पहुँचे। डाक्टर साहब ने यह सब सुना तो गंभीर हो गए और बोले—

'इन सब लोगों का यही हाल है। जाने दीजिए! जो मन आए वह करें। मैं भी कुछ नहीं करूँगा। मैं कुछ नहीं जानता!'

नारदजी निराश होकर चलने लगे तब डाक्टर साहब ने फिर पूछा— 'यह तो बताए जाइये कि आखिर कुडमल साहब इस वक्त हैं किस जगह?' नारद जी ने पता तो बता दिया मगर उदास होकर 'निडर प्रेस' की तरफ चले गये!

पारथी जी निडर प्रेस पहुँच चुके थे। सुरेन्द्र जी से वे इसकी चर्चा रहे थे। सुरेन्द्र जी यह सब सुनकर बहुत चिंतित हुए। साँस भर कर कहने लगे—

'वी आर पासिंग थ्रू ए क्राइसिस! यही तो परीक्षा का समय है। ऐसी हालत के लिए डा० लोहिया ने भी कहा है कि—

लोहिया पानी राखिए बिनु पानी सब सून
पानी बिना न ऊबरै, मोती मानुख चून !!

अब देखिए जब तक पानी न पहुँचेगा, तब तक हो हल्ला मचेगा! इसमें बेकार बदनामी होगी! हमें बड़ा सँभल कर काम करना चाहिए!'

पारथी जी बोले—

'तो सुरेन्द्र जी! आप तो कम से कम चलिए ही……'

सुरेन्द्र जी ने बड़ी आजिजी के साथ कहा—

'देखिए पारथी थी! मुझे न ले जाइए। आज ही लास्ट पेज का प्रूफ देख कर सण्डे एडीशन छोड़ देना है!…न्यूज देते जाइए! मैं दे दूँगा! …आप हो आइए……'

पारथी जी ने फिर से एक 'न्यूज' लिखी और दे दी! उसके बाद वे घटक जी के पास पहुँचे। घटक जी ने पारथी जी की बात सुनी और पान खाकर बोले—

'ये तो ठीक है। कुछ-कुछ हवा मैंने भी सुनी है। अभी दिल्ली गया था तो वहाँ भी यही उड़ती सुनाई पड़ी। आखिर साहब, यह पानी का किस्सा है क्या ?'

पान का डिब्बा खाली हो चुका था। घटक जी उठे और चिक के बाहर निकल कर उन्होंने अपने चपरासी को पान लाने का तथा कुछ और आदेश देकर फिर अपनी कुर्सी पकड़ी। तब तक मधुसूदन जी, राही जी और परमीश जी भी पधार गए। गर्वेश्वर जी भी आ गए। काफी सलाह मशविरा करने के बाद यह मित्र-मण्डली कुडमल जी के निवासस्थान माया घर की ओर चली।

नारद जी जब निडर प्रेस पहुँचे तो वहाँ एकदम सन्नाटा था। समझ लिया कि सब ने उन्हें धोखा दिया है!! वायुगति से माया घर पहुँचे। वहाँ पहुँच कर उन्हें पता लगा कि कोई 'अकिंचन' नामक सदस्य कुडमल को पानी पिला कर चला गया है! नारद जी बड़े चकित हुए कि इस अकिंचन प्राणी की उन्हें पहिले क्यों नहीं याद आई ? और यह सब हुआ तो कैसे हुआ ?

पीछे-पीछे डा० शिवदेव भीतर आते दिखाई पड़े। उनके हाथ में लकड़ी का एक सुराही दान था। उसमें एक सुराही रक्खी थी। सुराही पर खुराक के निशान बने हुए थे। उस पर एक मिट्टी का छोटा-सा गिलास था। सुराहीदान लाकर उन्होंने कुडमल के सिरहाने रख दिया और कहा कि जितनी भी प्यास लगे इसी सुराही से एक-एक खूराक पानी पी लिया करो! इस तरह से सारे शहर में हल्ला मचाने की जरूरत नहीं है।

तब तक घटक जी भी पूरे दल-बल के साथ वहाँ आ पहुँचे। पानी पिये हुए कुडमल को देखकर वे सब बहुत चकित और मुदित हुए। सब को यह जान कर बहुत ही आश्चर्य हुआ कि अकिंचन जी पानी कैसे पिला गए! सबकी जिज्ञासा इस तरह बढ़ती गई कि अंत में घटक जी को यह बताना पड़ा कि उन्होंने अपने चपरासी से अकिंचन जी को कहलवा दिया था! उन्होंने इसी कारण पानी पिला दिया।

नारद जी यह जान कर बड़े ही मुदित हुए। अपनी 'इन्क्वायरी' पूरी होते देख उन्होंने माया घर और कुडमल को लुप्त कर दिया। स्वयं भी उड़न छू हो गए। तब सब सदस्यों को लगा कि वे कोई भयंकर सपना देख रहे थे! इस सारी बारात के चिर कुँआरे दुल्हा प्रोफेसर राही थे। सब उन्हीं को बनाते हुए और मंगल कामनाएँ अर्पित करते हुए जाने लगे।

उधर नारद जी ने ब्रह्मलोक जाकर जिज्ञासुओं को बहुत संक्षिप्त और प्रभावशाली रिपोर्ट दी—

'कुडमल की स्थिति चिंत्य नहीं है। इसके सभी सदस्य कलिकाल से प्रभावित अवश्य हैं मगर उनके सौहार्द्र और स्नेह से निश्चित ही अपने समय पर सतयुग आएगा। हे मुनियों! आप अपने मन की चिंता त्याग कर अपने-अपने घर जाइए। यह सभी लोग असुरों का मुँह काला करेंगे और नये युग को पकड़ लाएँगे! आप चिंता न करें।'

इस प्रकार नारद के मुँह से आश्वासनभरी वाणी सुनकर सुर, मुनि गंधर्वा, मिलकर सर्वा, दुन्दुभी बजाते, जै-जैकार करते, नई कविता गाते-बजाते अपने-अपने धाम को पधार गए।*

---

* एक होलिकोत्सव की याद।